ओ३म्

# यज्ञमीमांसा





आचार्य रामनाथ वेदालंकार

# पुस्तक परिचय

जैसे हम भौतिक अग्नि में हव्य की आहुति देकर अग्निहोत्र करते हैं, वैसे अन्य क्षेत्रों में भी अग्निहोत्र हो रहा है। परमात्मा-रूप अग्नि में जीवात्मा, प्राण, मन, बुद्धि एवम् इन्द्रियों को समर्पित करना आत्मिक अग्निहोत्र कहलाता है। बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ अग्निहोत्री को यह आत्मिक अग्निहोत्र भी करना होता है, तभी अग्निहोत्र की पूर्णता होती है। अधिदैवत में भी अग्निहोत्र हो रहा है। छान्दोग्य उपनिषत् के अनुसार पृथिवी अग्नि है, संवत्सर उसकी समिधा है, आकाश धुंआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अंगारे हैं, अवान्तर दिशाएं चिनगारियां हैं। उस पृथिवीरूप अग्नि में वर्षाजल की आहुति पड़ती है। उस से अन्न रूप फल उत्पन्न होता है। मनुष्य के शरीर में प्राणाग्निहोत्र हो रहा है। पुरुष ही अग्नि है, वाणी उसकी समिधा है, प्राण धुंआ है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में अन्न की आहुति पड़ती है। उससे रेतस् रूप फल उत्पन्न होता है।

अग्निहोत्र के लाभों की सूची अनन्त है। वायुशुद्धि आरोग्य, दीर्घायुष्य, वर्षा, दूध, अन्न, धन, बल, ऐश्वर्य, सन्तान, पुष्टि, निष्पापता, सच्चरित्रता, जागृति, शत्रुविनाश, आत्मरक्षा, यश, तेजस्विता, वर्चस्विता, आनन्द, मोक्ष आदि की प्राप्ति अग्निहोत्र से बतायी गयी है। इनमें से कुछ लाभ साक्षात् सुगन्धि, पुष्टि, मिष्ट, रोगनाशक हव्यों की आहुति से प्राप्त होते हैं। कुछ परमात्माग्नि एवं यज्ञाग्नि के गुणों का चिन्तन करने तथा उसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने से होते हैं।

O
3.3



# यज्ञ-मीमांसा

[अग्निहोत्र की विशद व्याख्या सहित]



ओ३म्

# यज्ञ-मीमांसा

[अग्निहोत्र की विशद व्याख्या सहित]




**डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार**

*विद्यामार्तण्ड, एम०ए०, पी-एच०डी०*

पूर्व उपकुलपति एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़




**विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**



प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६, भारत
दूरभाष : ३९१४९४५, ३९७७२१६
Email : ajayarya@ndb.vsnl.net.in

संस्करण : वर्ष २०००

मूल्य : ९५.०० रुपये

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

YAJNA-MIMANSA
*by* Dr. Ram Nath Vedalankar



# भूमिका

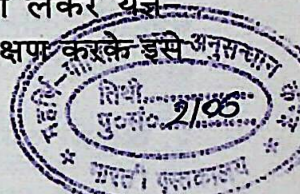
स्वामी दयानन्द सरस्वती अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों की चर्चा करते हैं। अग्निहोत्र एक नैत्यिक कर्तव्य है, जो शास्त्र-मर्यादा के अनुसार सभी को करना होता है। अन्य यज्ञों को करने के सभी अधिकारी हों, ऐसा नहीं है। लाभों का ज्ञान न होने पर भी वैदिक विधान होने से ही अग्निहोत्र सबको करणीय है; लाभ जानकर किया जाए तो उसमें अधिक श्रद्धा होती है। उन लाभों को प्राप्त करने की प्रेरणा भी मिलती है और उसके लिए मनुष्य प्रयत्न भी करता है। अतः वेदादि शास्त्रों ने भी तथा स्वामी जी ने भी यज्ञ एवं अग्निहोत्र के भूरि-भूरि लाभ बताए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में वेदोक्त तथा स्वामी दयानन्द-प्रोक्त अनेक लाभों का उल्लेख किया गया है। इन लाभों में अनागत रोगों से बचाव, प्राप्त रोगों का दूर होना, वायु-जल की शुद्धि, ओषधि-पत्र-पुष्प-फल-कन्दमूल आदि की पुष्टि, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, बल, इन्द्रिय-सामर्थ्य, पाप-मोचन, शत्रु-पराजय, तेज, यश, सद्विचार, सत्कर्मों में प्रेरणा, गृह-रक्षा, भद्र-भाव, कल्याण, सच्चारित्र्य, सर्वविध सुख आदि दर्शाए गए हैं। वन्ध्यात्व-निवारण, पुत्र-प्राप्ति, वृष्टि, बुद्धिवृद्धि, मोक्ष आदि फलों का भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ शंका यह हो सकती है कि क्योंकि प्रत्येक अग्निहोत्री को ये फल प्राप्त नहीं होते, अतः यह फलश्रुति मिथ्या है। इसलिए इसका विवेचन यहाँ कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

यज्ञ, अग्निहोत्र या होम के लाभों को दो भागों में

विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के वे लाभ हैं, जो होम से स्वतः प्राप्त हो सकते हैं, यथा वायुशुद्धि, जलशुद्धि, स्वास्थ्य-प्राप्ति, इन्द्रिय-सामर्थ्य, दीर्घायुष्य आदि। यदि अग्नि में यथोचित मात्रा में सुगन्धित, मिष्ट, पुष्टिप्रद एवं रोगहर द्रव्यों का होम किया गया है, तो यजमान चाहे या न चाहे, इन लाभों के प्राप्त होने का अवसर रहता ही है। शीत ऋतु में गुड़, मेथी, सोंठ, अजवाइन, गूगल जैसी साधारण वस्तुओं के होम से ही गृह-सदस्यों को सर्दी के अनेक रोगों से बचाव और छुटकारा मिलता देखा गया है। दूसरे प्रकार के लाभ वे हैं, जो अग्निहोत्री यजमान के इच्छा, प्रेरणाग्रहण एवं प्रयत्न पर निर्भर हैं। यदि यजमान मन्त्रों के अर्थ का अनुसरण करता हुआ परमेश्वर के एवं परमेश्वररचित यज्ञाग्नि के परमेश्वरकृत गुण-कर्म-स्वभाव का चिन्तन करता हुआ उन्हें अपने अन्दर धारण करने का व्रत लेता है और तदर्थ प्रयत्न करता है, तो वह सन्मार्ग पर चलने की सद्बुद्धि प्राप्त करेगा, पापकर्मों से बचेगा, सदाचारी बनेगा, तेजस्वी एवं यशस्वी होगा और मोक्षप्राप्ति के अनुरूप कर्म करने की प्रेरणा लेगा, तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। यदि कोई यजमान इन लाभों को पाने का प्रयत्न ही नहीं करता, सूखे मन से आहुतिमात्र देता है, फलतः उसे ये लाभ प्राप्त नहीं होते, तो इसमें यज्ञ का दोष नहीं है।

जहाँ तक बड़े-बड़े रोगों को दूर करने, महामारियाँ रोकने आदि का प्रश्न है, प्राचीन काल में इस प्रकार के यज्ञ होते रहे हैं। पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टियाँ भी की जाती रही हैं। इनकी सफलता कुछ तो मनोबल, श्रद्धा एवं आशावादिता पर निर्भर है, दूसरे अधिक योगदान इस बात का है कि कौन-सी ओषधियों से होम किया जाता है। जैसे अन्य चिकित्सा-पद्धतियाँ आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, जल-चिकित्सा, ऐलोपैथी, होम्योपैथी आदि हैं, वैसे ही अग्निहोत्र-चिकित्सा भी एक वैज्ञानिक पद्धति है। अग्निहोत्र-चिकित्सा पर प्रस्तुत पुस्तक में एक अध्याय पृथक् लिखा गया है। उसमें अग्निहोत्र

द्वारा वेदोक्त रोगकृमि-विनाश, ज्वर-चिकित्सा, उन्माद-चिकित्सा, गण्डमाला-चिकित्सा एवं गर्भदोष-चिकित्सा पर प्रकाश डाला गया है। आर्युर्वेदज्ञ विद्वानों का कर्तव्य है कि वेदों एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों से दिशा-निर्देश लेकर यज्ञ-चिकित्सा पर अधिकाधिक अनुसन्धान एवं परीक्षण करके इसे व्यावहारिक बनाने का प्रयास करें।



## आधुनिक प्रचलित यज्ञ

वर्तमान काल में आर्यसमाज में भी और अन्यत्र भी कई यज्ञों का प्रचलन है। निम्नलिखित प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान हो ही रहा है।

### १. दैनिक अग्निहोत्र

यह नैत्यिक कर्तव्य है। कुछ लोग घरों में नियम से दोनों समय या एक समय दैनिक अग्निहोत्र करते हैं। कुछ लोग आर्यसमाजों में होनेवाले सामूहिक दैनिक या साप्ताहिक अग्निहोत्र में सम्मिलित हो लेते हैं; घर पर अग्निहोत्र नहीं करते। स्वामी दयानन्द ने अपनी 'संस्कारविधि' पुस्तक में घृत की प्रत्येक आहुति न्यूनतम छह माशे की लिखी है। वह घृत भी कस्तूरी, केसर, चन्दन, कपूर, जावित्री, इलायची आदि से सुगन्धित किया होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुगन्धि, मिष्ट, पुष्ट एवं रोगनाशक द्रव्यों की हवन-सामग्री होनी चाहिए। समिधाएँ भी चन्दन, पलाश, आम आदि की होनी चाहिएँ। उन्होंने अग्निहोत्र के जो लाभ अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, वे घर-घर होनेवाले इसी प्रकार के अग्निहोत्र को दृष्टि में रखकर हैं। इस प्रकार का अग्निहोत्र हो, तो उसमें दोनों समय का मिलाकर पचास रुपये से अधिक ही दैनिक व्यय बैठेगा। इतना व्यय करने का सामर्थ्य और उत्साह विरलों का ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार जैसा भी बन पड़े होम करना उचित है। हव्य चारों प्रकार के होने

चाहिएँ, जिससे वायुमण्डल सुगन्धित तथा रोगहर ओषधियों के अणुओं से युक्त हो तथा उसमें श्वास लेने से लाभ पहुँचे। जो एक काल के ही व्रत का निर्वाह करना चाहें, वे वैसा कर सकते हैं। अग्नि प्रज्वलित रहे और धुआँ न उठे, ऐसा प्रयास होना चाहिए।

## २. वेदपारायण-यज्ञ

किसी एक वेद के या एक-साथ चारों वेदों के पारायण-यज्ञों का प्रचलन बढ़ रहा है। ऋग्वेद में १०५५२ मन्त्र, यजुर्वेद (वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता) में १९७५ मन्त्र, सामवेद (कौथुमसंहिता) में १८७५ मन्त्र और अथर्ववेद (शौनकीय संहिता) में ५९८७ मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेदों की कुल मन्त्र-संख्या २०३८९ होती है। एवं एक-एक वेद के पारायण-यज्ञ में तथा चतुर्वेदपारायण-यज्ञ में इतनी-इतनी आहुतियाँ तो वेद-पारायण की देनी होती हैं, कुछ सामान्य या बृहद् अग्निहोत्र एवं गायत्री आदि की हो जाती हैं। आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर, किन्हीं पर्वों पर, या अन्य किसी सामाजिक एवं व्यक्तिगत विशिष्ट अवसर पर इन वेदपारायण-यज्ञों का आयोजन प्रायः किया जाता है।

ये यज्ञ अग्निहोत्र के समान नैत्यिक नहीं हैं, अपितु नैमित्तिक या काम्य ही हो सकते हैं। नैमित्तिक कार्य के लिए निमित्त होना आवश्यक है। वार्षिकोत्सव, पर्वोत्सव, जन्मोत्सव आदि शुभ कार्य परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना एवं यज्ञ से आरम्भ हों, इतना ही विधान है। सो सामान्य यज्ञ से कार्य-निर्वाह हो सकता है। बृहद् वेदपारायण-यज्ञ करने का प्रयोजन कुछ अन्य ही होना चाहिए, एवं यह काम्य कर्म कहलाएगा। अतः यह विचार करना होगा कि उसमें क्या उद्देश्य है या किस फल की प्राप्ति की कामना है। प्रत्येक कार्य में आर्थिक दृष्टिकोण भी रखना होता है। अतः यह भी देखना होगा कि कहीं ऐसा तो नहीं है



कि जिस उद्देश्य या फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ आयोजित करने का विचार कर रहे हैं, वह उद्देश्य या फल किसी अन्य साधन या उपाय से बहुत कम व्यय में प्राप्त हो सकता हो। निश्चयात्मकता भी देखनी होगी कि किस उपाय से अभीष्ट उद्देश्य अधिक निश्चित रूप से प्राप्त हो सकता है। तत्पश्चात् यदि यज्ञ ही साधकतम उपाय या विशेष सहायक उपाय जँचे, तब यज्ञ का आयोजन करना उपयुक्त है। वेदप्रचार करना ही उद्देश्य हो, तो बिना होम के भी वेदपारायण किया और करवाया जा सकता है। प्रतिदिन जितना वेदपाठ किया जाए, उतने के पश्चात् सामान्य अग्निहोत्र हो सकता है। तदनन्तर वेदप्रचारार्थ भाषण, प्रवचन एवं उपदेश हो सकते हैं। जो यजमान बनें उन्हें भी वेदपाठ का अभ्यास कर लेना उचित है।

यदि पर्यावरण-शुद्धि, महामारी को दूर करने आदि के लिए विशाल यज्ञ का आयोजन आवश्यक ही समझा जाए, तो उसके लिए प्रारंभिक सावधानियाँ बरत लेनी उचित हैं। जिस परिसर में यज्ञ करना हो वहाँ की स्वच्छता पहले कर लेनी उपयुक्त है, अन्यथा दुर्गन्ध और रोग फैलानेवाले साधन विद्यमान रहें, तो यज्ञ द्वारा सुगन्ध फैलाने से विशेष लाभ नहीं होगा। चारों ओर ढेर लगे कूड़े-करकट को इकट्ठा करवाकर जला देना या गड्ढों में दबा देना, गन्दगी फैलानेवाली नालियों की सफाई करवाना आदि आवश्यक है। यज्ञ में लगनेवाले धन में से कुछ बचाकर उससे नालियों की ढलान यदि ठीक करवाई जाए, तो उससे यज्ञ का उद्देश्य पूर्ण होने में विशेष सहायता मिल सकती है। साथ ही सूखी बाजारू हवन-सामग्री तथा नाममात्र घृत से सम्पूर्ण वेद के पारायण की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होगा कि कुछ ही वेदमन्त्रों का पाठ किया जाए, किन्तु हवन-सामग्री उद्देश्य के अनुरूप आयुर्वेद-सम्मत हो, तथा घृत भी सुगन्धित एवं कृमिहर पदार्थों से युक्त हो।

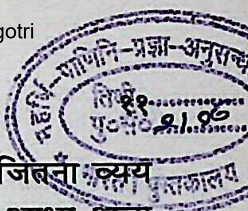
यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यजमान जिस उद्देश्य

से यज्ञ रचा रहे हैं, उसके अनुरूप मन्त्रों का ही पाठ होना आवश्यक है। यजमान यज्ञ तो करा रहे हों स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, किन्तु मन्त्र बोले जाएँ विवाह-सम्बन्धी, अन्त्येष्टि-सम्बन्धी, राजनीति-सम्बन्धी, नौविमानादि यान-सम्बन्धी, गणितविद्या-सम्बन्धी, तो यह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से विचार करें तो वेदपारायण-यज्ञ प्रश्नचिह्न की कोटि में आ जाते हैं, क्योंकि वेदों में सभी प्रकार के विषय वर्णित हैं। बचाव के लिए यह कहा जा सकता है कि हम तो वेदपारायण के उद्देश्य से ही यज्ञ कर रहे हैं। किन्तु यदि वेदपारायण उद्देश्य है, तब तो बिना आहुतिवाला वेदपारायण-यज्ञ करना उचित है, जैसाकि अभी हम पूर्व बता चुके हैं। यजमान जब किसी मन्त्र से आहुति देता है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि मनमोहक बात के पूर्ण होने की वह अपने लिए कामना कर रहा है। विद्वज्जन इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

कोई यह भी कह सकते हैं कि हम तो वेदपारायण-यज्ञ निष्काम भाव से कर रहे हैं, अर्थात् ऐसा करने में हमें किसी लौकिक सुख की कामना नहीं है, अपितु, परमेश्वर की प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है। परन्तु निष्काम कर्म करने योग्य मानसिक स्थिति सर्वसाधारण की नहीं हो सकती। निष्काम कर्म तो अत्युच्च आध्यात्मिक स्तर के मनुष्यों की बात है। सर्वसाधारण लोग यदि निष्काम यज्ञ करने की बात कहते हैं, तो उसका तात्पर्य है कि वे निरुद्देश्य यज्ञ कर रहे हैं।

### ३. गायत्री-यज्ञ

एक लक्ष, पचास सहस्र, दश सहस्र, एक सहस्र आदि संख्याओं के गायत्री-यज्ञों का भी प्रचलन है। जो बातें वेदपारायण-यज्ञों के विषय में कही गई हैं, उनमें से कुछ गायत्री-यज्ञों के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। अच्छा यह है कि इन यज्ञों की विशालता को कुछ कम करके इनके साथ



कोई अन्य परोपकार के कार्य भी जोड़े जाएँ। जितना व्यय करना चाहते हैं उसका आधा यज्ञ में करें और आधा अन्य परोपकार के कार्यों में। वे परोपकार के कार्य भी उस यज्ञ का ही अंश माने जाएँ। ये कार्य हो सकते हैं नेत्र-दान, वस्त्र-दान, अन्न-दान, अपंगों को कृत्रिम हाथ-पैरों का दान, प्रौढ़शिक्षा-दान, योगविद्या-दान, आदि। इन यज्ञों के साथ किन्हीं दुर्व्यसनों को त्यागने और किन्हीं सत्कर्मों में प्रवृत्त होने के व्रत-ग्रहण भी बहुत बड़ी संख्या में लोगों से कराए जा सकते हैं। जैसे एक हजार लोग यज्ञ में एकत्र होकर भविष्य में धूम्रपान न करने, मांस न खाने आदि का व्रत ले सकते हैं, या एक हजार लोग अलग-अलग अपने अन्दर विद्यमान किसी दुर्व्यसन को त्यागने का व्रत ले सकते हैं। इसी प्रकार कोई यह व्रत ले सकते हैं कि मैं इतने प्रौढ़ अशिक्षितों को शिक्षित करूँगा, इतने व्यक्तियों को योगासन-प्राणायाम सिखाऊँगा, इतने लोगों की मद्यपान की आदत छुड़वाऊँगा, इतने लोगों को यज्ञोपवीत दूँगा, इतने लोगों को 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ाऊँगा आदि। गायत्री-मंत्र में 'सविता' प्रभु से बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करने की प्रार्थना है। गायत्री-यज्ञ के साथ परोपकार के कार्य करने तथा सन्मार्ग पर चलने का व्रत ग्रहण करने से मन्त्रार्थ की चरितार्थता भी हो जाती है। प्रतिदिन यज्ञ के साथ सन्मार्ग पर चलने-चलाने के लिए धर्मोपदेश होंगे ही।

### ४. बहुकुण्डी यज्ञ

११ कुण्डी, ५१ कुण्डी, १०१ कुण्डी आदि बहुकुण्डी यज्ञों का प्रचलन भी बहुतायत से हो रहा है। कुण्डों की संख्या बढ़ते उत्साह में ५०१ या १००१ या इससे भी अधिक हो सकती है। बहुकुण्डी यज्ञ की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

१. एक ही काल में अधिक यजमान हो सकते हैं तथा उन सभी को एक-साथ आहुति डालने का अवसर प्राप्त हो सकता

है। जैसे एक कुंण्ड पर दो-दो यजमान पति-पत्नी बैठें तो १०१ कुण्डी यज्ञ में २०२ यजमान आहुति दे सकते हैं। पति-पत्नी को अलग-अलग मानें तो ४०४ व्यक्ति आहुति दे सकेंगे।

२. सब यजमानों या सब यज्ञ-कुण्डों के लिए पुरोहित तथा वेदपाठी एक ही रहते हैं। यदि अलग-अलग स्थानों पर एक-एक कुण्ड रखकर १०१ यज्ञ होते, तो पुरोहित तथा वेदपाठी भी अलग-अलग रखने पड़ते।

३. ब्रह्मा की ओर से सबको उपदेश भी इकट्ठा मिल जाता है। अलग-अलग स्थानों पर यज्ञ की जो अलग-अलग व्यवस्था करनी पड़ती, उससे भी बच जाते हैं।

४. पुरोहितों को एक ही काल में अनेक यजमानों की ओर से दक्षिणा मिलने से दक्षिणा की राशि पुष्कल हो जाती है, जिसे वे किसी सत्कार्य में लगा सकते हैं। वे ही पुरोहित अलग-अलग समय में एक सौ एक स्थानों पर यज्ञ कराते तो एक सौ एक गुणा समय में उतनी दक्षिणा उन्हें मिलती।

किन्तु हमारे विचार से बहुकुण्डी यज्ञों को प्रोत्साहित न किया जाना ही उचित है। एक स्थान पर अनेक कुण्डों में यज्ञ करने की अपेक्षा अनेक स्थानों पर एक-एक कुण्ड से यज्ञ किये जाने में अधिक लाभ हैं। अनेक स्थानों पर अलग-अलग यज्ञ होगा, तो उन सब स्थानों का वायुमण्डल यज्ञिय सुगन्ध से शुद्ध होगा और सब स्थानों से सुगन्ध चारों ओर फैलेगी। उस स्थिति में पुरोहित भी भिन्न व्यक्ति हो सकते हैं, जिससे पौरोहित्य कुछ ही विद्वानों में सीमित न रहकर बहुव्यापी हो सकेगा। इससे पौरोहित्य-कला का भी प्रसार होगा। वेदपाठी भी सब स्थानों के यज्ञों में भिन्न व्यक्ति हो सकेंगे। इससे वेदपाठ का भी प्रचार होगा, अधिक लोग शुद्ध वेदपाठ करना सीखेंगे। अच्छे पुरोहितों और अच्छे वेदपाठियों की माँग अधिक होगी, इसलिए सभी अच्छे बनने का प्रयास करेंगे। अनेक स्थानों के ब्रह्माओं द्वारा दिये गए उपदेश पुस्तकाकार छपेंगे, तो साहित्य-सर्जन भी अधिक होगा।

दक्षिणा कई पुरोहितों में बँट जाने से दक्षिणा का एकाधिकार भी नहीं रहेगा। अनेक विद्वान् सत्कृत-पूजित होंगे। वेदों में या किसी अन्य प्रामाणिक प्राचीन आर्ष ग्रन्थ में बहुकुण्डी यज्ञ का विधान भी हमें अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सका है।

कहा जाता है कि सार्वजनिक यज्ञ में यदि एक ही कुण्ड होगा, तो गिने-चुने लोग ही आहुति डाल सकेंगे, शेष लोग आहुति डालने के पुण्य से वंचित ही रह जाएँगे। किन्तु सबको आहुति डालने का पुण्य तो बहुकुण्डी यज्ञों में भी नहीं मिल पाता, यजमानों को ही मिलता है। दूसरे, आहुति डालने का पुण्यलाभ करना है, तो घर पर दैनिक अग्निहोत्र से कीजिए। सार्वजनिक यज्ञ में तो सम्मिलित होने का ही पुण्य है।

## ५. वृष्टि-यज्ञ

वृष्टि-यज्ञ एक विज्ञान है। इस विज्ञान का जो ज्ञाता हो, उसे ही यह यज्ञ कराने का अधिकार होना चाहिए। ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९८ को निरुक्तकार यास्काचार्य ने वर्षकाम-सूक्त नाम दिया है। इसमें अनावृष्टि होने पर 'देवापि' गुणवाले विद्वान् के पौरोहित्य में वृष्टियज्ञ कराकर वर्षा होने का वर्णन है। देवापि वह विद्वान् है, जो यज्ञ द्वारा पर्जन्य देव को भूमि पर प्राप्त करने या बरसाने का विज्ञान जानता है। ऋग्वेद की एक ऋचा (ऋ० ५.८३.९) में अतिवृष्टि होने पर उसे रोकने की चर्चा भी मिलती है। इस वृष्टियज्ञ-विज्ञान पर अधिकाधिक अनुसन्धान होना चाहिए और अनावृष्टि या अतिवृष्टि होने पर अधिकारी विद्वानों द्वारा राजकीय स्तर पर वृष्टियज्ञ कराए जाने चाहिएँ।[१] आज वैज्ञानिक जगत् में अन्तरिक्ष में बादलों पर रासायनिक द्रव्य छिड़ककर वर्षा कराने के सफल परीक्षण किये गए हैं।

---

१. वृष्टियज्ञ के संबंध में द्रष्टव्य—लेखक का ग्रन्थ 'आर्ष ज्योति', १९९१, समर्पण शोध संस्थान, पृष्ठ २३६-४७।

# यज्ञ को महिमामण्डित किस सीमा तक करें?

यज्ञ वेदों की अनुपम देन है, जिसका विविध परीक्षणोपरान्त विस्तार तथा दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, पुरुषमेध, पितृमेध, अश्वमेध, सर्वमेध आदि में विभाजन प्राचीन ऋषियों ने किया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों का युग यज्ञ की पराकाष्ठा का था, जिसका निरूपण धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों में भी हुआ। उपनिषत्काल में यज्ञों का महत्त्व कम होने लगा और ब्रह्मविद्या या ब्रह्मसाक्षात्कार पर अधिक बल दिया गया। यज्ञों के विषय में मुण्डक उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि निःसंदेह यज्ञ बड़ा महिमाशाली है, तथापि यह फूटी नौका के समान है[1] अर्थात् जैसे छिद्रित नौका से पार नहीं उतरा जा सकता, ऐसे ही यज्ञों द्वारा ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती, आवागमन के चक्र से नहीं छूटा जा सकता। ब्रह्मप्राप्ति तो अध्यात्म-यज्ञ या ध्यान-यज्ञ से ही संभव है। परन्तु अध्यात्म-धारा भी सीमा को पार कर जाने के कारण विकृत हो गई। शंकराचार्य ने सर्वेश्वरवाद का प्रचार किया, जिसका परिणाम हितकर नहीं हुआ।

तात्पर्य यह है कि कोई भी अच्छा कार्य जब सीमा का उल्लंघन करने लगता है, तब उसके प्रति विद्वद्वर्ग एवं जनसाधारण की श्रद्धा हटने लगती है और उसका प्रचार रुक जाता है। अतः वर्तमान काल में भी यज्ञ का प्रचार-प्रसार किस रूप में और किस सीमा तक हो यह विचारना होगा। कुछ सुझाव हम प्रत्येक यज्ञ पर विचार करते हुए दे चुके हैं। यहाँ कतिपय अन्य सुझाव दिये जा रहे हैं—

१. घर-घर में किये जानेवाले नैत्यिक दैनिक अग्निहोत्र का प्रचार अधिकाधिक हो। घर के सब सदस्य यज्ञ में सम्मिलित हों।

---

१. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो ये ऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥ मु०उप० २.७

२. यज्ञों में स्वच्छता और पवित्रता का पूरा ध्यान रखा जाए।

३. सामूहिक यज्ञों में यजमान, व्रती और दर्शक तीन श्रेणियाँ हों। यजमान सब आहुतियाँ डालें, व्रती केवल व्रत-ग्रहण की आहुतियाँ तथा पूर्णाहुति डालें। दर्शकों को आहुति डालने का अधिकार नहीं होगा।

४. यजमान और व्रती नियत वेश में बैठें तथा प्रतिदिन सारे समय उपस्थित रहें।

५. वेदप्रचार के उद्देश्य से वेदपारायण-यज्ञ बिना आहुतिवाले किये जाएँ, अर्थात् स्तुति-प्रार्थना-उपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण के समान प्रतिदिन यज्ञार्थ निर्धारित समय में होम से पूर्व वेदमन्त्र-पाठ हुआ करे, तत्पश्चात् सामान्य होत्र हो। होम के अनन्तर वेदोपदेश हो।

६. वेदप्रचार के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से दीर्घयज्ञों का आयोजन हो, तो उसके अनुरूप मन्त्रों का चयन करके उनके पाठपूर्वक आहुति दी जाए। साथ में कुछ मन्त्र ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना के रखे जा सकते हैं।

७. दीर्घयज्ञों के उद्देश्य अनेक हो सकते हैं, यथा— स्वराज्य और सुराज्य की भावना जगाना, किसी फैली हुई महामारी से बचाव, स्वास्थ्य-प्राप्ति एवं दीर्घायुष्य, धन-समृद्धि, कृषि-पुष्टि, दुर्भिक्षनाश, वृष्टि, सन्तान-प्राप्ति, पाप-नाशन, धर्मप्रचार आदि। प्रत्येक उद्देश्य के वेदमन्त्र-संग्रह तैयार किये जा सकते हैं। यज्ञों के अनन्तर प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वेदोपदेश या धर्मोपदेश होंगे ही।

८. यज्ञों में श्रद्धा और मेधा दोनों का प्रयोग हो। श्रद्धा के साथ वैज्ञानिकता का भी ध्यान रखा जाए।

९. घृत एवं अन्य हव्य पदार्थ शुद्ध, सुसंस्कृत हों। सुगन्धित, मिष्ट, पुष्टिप्रद एवं रोगहर चारों प्रकार के हव्य होने चाहिएँ। हवन-सामग्री पर अनुसन्धान होने उचित हैं।

१०. आहुति डालने से मुक्ति मिल जाएगी—ऐसा प्रचार करके पूर्णाहुति के लिए जनता को आकृष्ट करना और जो भी

पूर्णाहुति के समय आ जाए, उससे आहुति डलवा देना उचित नहीं है। यजमानों के अतिरिक्त यदि किन्हीं को पूर्णाहुति का अधिकार देना है, तो उन्हीं को मिलना चाहिए जो व्रती बनकर प्रतिदिन प्रारम्भ से अन्त तक यज्ञ में उपस्थित रहे हों। जिन्होंने यज्ञ आरम्भ ही नहीं किया, उन्हें पूर्णाहुति का अधिकार कैसे मिल सकता है!

११. मान्य पुरोहितवर्ग, विद्वद्वर्ग तथा सुधीजनों को यह भी सोचना होगा कि यज्ञ को आवश्यकता से अधिक महिमामण्डित न करें। मध्यमार्ग ही उचित रहता है। देश की भूखी-नंगी जनता को देखना और उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने का विचार भी करना होगा। दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, तूफ़ान, अग्निकाण्ड, दुर्घटनाओं आदि की त्रासदी से पीड़ित जनता के लिए भी अपना तन-मन-धन देना होगा।

लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में या तो वेदादि शास्त्रों की बात कही है, या जननायक दयानन्द सरस्वती स्वामी की। उन्हीं का यह भी प्रबोधन है—

**मा प्र गाम पथो वयं, या यज्ञादिन्द्र सोमिनः।**
**मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥** ऋ० १०.५७.१

"जिसके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य-पथ है उससे हम विचलित न हों, यज्ञ से विचलित न हों और अपने अन्तःकरण में शत्रुओं को न पनपने दें।" इन तीनों आदेशों का हमें पालन करना है। यज्ञ को सर्वदा न करना भी उससे विचलित होना है और अविवेकपूर्वक करना भी उससे विचलित होना है। आशा है यज्ञप्रेमी-जन उपर्युक्त बातों पर विचार करके ग्राह्य को ग्रहण करेंगे।

## ग्रन्थ की संक्षिप्त झाँकी

ग्रन्थ की संक्षिप्त झाँकी विषय-सूची से मिल जातीं है। फिर भी दो शब्द लिख देना उपयोगी होगा।

**प्रथम अध्याय** में यज्ञ और अग्निहोत्र के विषय में

सामान्य विचार प्रकट किये गए हैं। इसमें वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थ आदि के आधार पर तथा स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के आधार पर अग्निहोत्र के स्वरूप, काल, समिधा, हव्य, यज्ञकुण्ड-परिमाण, यज्ञ-पात्र आदि का सब विधान वर्णित करते हुए स्वामी दयानन्द की ही भाषा में यज्ञ के लाभों का विशद प्रतिपादन किया गया है।

**द्वितीय अध्याय** यज्ञ-चिकित्सा सम्बन्धी है। इसमें कुछ रोगों की वेदोक्त यज्ञ-चिकित्सा का वर्णन करके आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रमाण देकर यह बतलाया गया है कि किस प्रकार यज्ञ-चिकित्सा अन्य चिकित्सा-पद्धतियों की अपेक्षा अधिक उपकारी सिद्ध हो सकती है।

**तृतीय अध्याय** में अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक १२५ वेदमन्त्र अर्थसहित दिये गए हैं, जिनसे पाठकों को ज्ञात हो सकेगा कि वेद की दृष्टि में यज्ञ एवं अग्निहोत्र का कितना अधिक महत्त्व है। वेदोक्त लाभों की इस लम्बी सूची को देखकर एक बार तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है और पाठक सोचने लगता है कि कहीं यह अतिशयोक्ति तो नहीं है?

**चतुर्थ अध्याय** में संस्कारविधि में प्रोक्त अग्निहोत्र की विधियों तथा मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है, जो इस ग्रन्थ की बहुमूल्य संपदा है।

**पंचम अध्याय** में संस्कारविधि में पठित बृहद्यज्ञ के विशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या है। ये मन्त्र अग्निहोत्र करते हुए किस स्थल के बाद पढ़े जाने चाहिएँ, इसकी भी मीमांसा की गई है।

**षष्ठ अध्याय** में दो झाँकियाँ हैं। प्रथम में आत्मिक अग्निहोत्र का एक चित्र उपस्थित किया गया है जिसमें दिखाया गया है कि आत्मिक अग्निहोत्र में अग्नि क्या है और इसमें समिधाओं तथा घृत की आहुति का क्या आशय होता है। दूसरी झाँकी में अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभों का

प्रदर्शन है। इस अध्याय के अन्त में एक अध्यात्म–गीत भी दिया गया है।

**सप्तम अध्याय** में यज्ञ और अग्निहोत्र से सम्बन्ध रखनेवाली वैदिक साहित्य की ७५ लघु सूक्तियाँ दी गई हैं, जिनका भाषणों में प्रयोग हो सकता है तथा जिन्हें यज्ञशालाओं में अंकित किया जा सकता है।

आशा है पाठक इस ग्रन्थ में बहुत–कुछ नया या नवीन शैली से लिखा गया पाएँगे तथा इससे कुछ ज्ञानवृद्धि पा सकेंगे। यदि पाठक इस ग्रन्थ से लाभान्वित हुए तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

## आभार

अन्त में 'विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द' प्रकाशन के वर्तमान संचालक प्रिय श्री अजयकुमार जी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ तथा उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने अपने प्रकाशन के ७५ वर्षीय अमृतमहोत्सव के अन्तर्गत इस ग्रन्थ को उत्साह एवं प्रेम के साथ प्रकाशित किया है। स्वर्गीय श्री विजयकुमार जी एवं श्री गोविन्दराम जी से भी मेरा अच्छा परिचय रहा है। विजयुकमार जी ने मेरी 'वैदिक मधुवृष्टि' पुस्तक प्रकाशित की थी तथा वे मेरी अन्य पुस्तकें भी प्रकाशनार्थ चाहते थे। श्री गोविन्दराम जी गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर मेले में विक्रयार्थ पुस्तकों का स्टाल लगाते थे तथा प्रतिवर्ष नये प्रकाशन देकर पंडाल के मंच से मुझसे उनकी घोषणा करवाते थे। इन दोनों को तथा स्व० श्री हासानन्द जी को भी मैं स्नेह और श्रद्धा के साथ स्मरण करता हूँ तथा इस प्रकाशन–संस्थान की उन्नति चाहता हूँ।

यह ग्रंथ का द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण श्री महात्मा वेदभिक्षु जी की प्रेरणा से पण्डिता राकेश रानी जी ने दयानन्द संस्थान, वेदमन्दिर, नई दिल्ली से प्रकाशित किया था। वह वैदिक यन्त्रालय अजमेर में छपा था तथा उसका

संपादन प्रो० धर्मवीर जी ने किया था। उक्त महानुभावों का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। प्रथम संस्करण इतनी कम संख्या में छपा था कि वह कुछ ही पाठकों के हाथों में पहुँच पाया। इस संस्करण में बहुत अधिक परिवर्तन-परिवर्द्धन किया गया है जिससे यह नवीन ग्रन्थ के समान हो गया है। आशा है पाठक इसका स्वागत करेंगे।

कार्तिक पूर्णिमा
१९५६

वेदप्रेमियों का सेवक
**रामनाथ वेदालंकार**

# संकेत-सूची

| | |
|---|---|
| अथर्व | अथर्ववेद संहिता |
| आप० गृह्य० | आपस्तम्ब गृह्यसूत्र |
| आर्याभि० | आर्याभिविनय |
| आश्व० गृह्य० | आश्वलायन गृह्यसूत्र |
| उ० | उणादि कोष |
| उवट | उवटभाष्य, मा० यजुर्वेद |
| ऋग्० | ऋग्वेद संहिता |
| ऋ० भा० भू० | ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका |
| ऐ० ब्रा० | ऐतरेय ब्राह्मण |
| क०क०सं० | कपिष्ठल कठसंहिता |
| कठ उप० | कठोपनिषद् |
| का०सं० | काठक संहिता |
| का०श०ब्रा० | काण्वीय शतपथ ब्राह्मण |
| का०श्रौ०सू० | कात्यायन श्रौतसूत्र |
| कौ०ब्रा० | कौषीतकी ब्राह्मण |
| कौ०ब्रा०उप० | कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् |
| गो०ब्रा०उ० | गोपथ ब्राह्मण, उत्तर भाग |
| गो०ब्रा०पू० | गोपथ ब्राह्मण, पूर्व भाग |
| छा०उ० | छान्दोग्योपनिषद् |
| जै०उ०ब्रा० | जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण |
| जै०ब्रा० | जैमिनीय ब्राह्मण |
| तै० आ० | तैत्तिरीय आरण्यक |

| | |
|---|---|
| तै० उप० | तैत्तिरीयोपनिषद् |
| तै० ब्रा० | तैत्तिरीय ब्राह्मण |
| तै०सं० | तैत्तिरीय संहिता |
| द०भा० | दयानन्द-भाष्य |
| दया० | दयानन्द स्वामी |
| निघं० | निघण्टुकोष |
| निरु० | निरुक्त |
| पं०म०य०विधि | पञ्चमहायज्ञविधि |
| पा० | पाणिनीय अष्टाध्यायी |
| प्रपा० | प्रपाठक |
| बृ०नि०र० | बृहन्निघण्टुरत्नाकर |
| मनु० | मनुस्मृति |
| मु०उप० | मुण्डकोपनिषद् |
| मै०सं० | मैत्रायणी संहिता |
| यजु० | यजुर्वेदसंहिता, माध्यन्दिनी |
| यो०र० | योग रत्नाकर |
| श०ब्रा० | शतपथ ब्राह्मण, माध्यन्दिनीय |
| शां०आ० | शांखायन आरण्यक |
| श्वेता०उप० | श्वेताश्वतरोपनिषद् |
| स०प्र० | सत्यार्थप्रकाश |
| समु० | समुल्लास |
| सं०वि० | संस्कार विधि |
| साम० | सामवेदसंहिता |

# विषय-सूची

## अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक वेदमन्त्र

अग्निहोत्र का आदेश, नारियाँ तथा सारा परिवार अग्निहोत्र करें, अग्निहोत्र नैत्यिक कर्तव्य, व्रत और श्रद्धापूर्वक यज्ञ करें, मन्त्रोच्चारण भी करें, होम के साथ ध्यान भी, गोघृत की आहुति, हवि कैसी हो ? समिधा कैसी हो ? अग्निहोत्री के उद्गार, अग्निहोत्र से वर्षा, अग्निहोत्र से पुत्र-प्राप्ति, पुत्र-प्राप्ति की हवि, अग्निहोत्र के अन्य लाभ—(१) अन्न, धन, बल, विज्ञान, विजय, उत्कर्ष, (२) दीर्घायुष्य, (३) सफलता, निवास, सुवीर्य, वृद्धि, पापमुक्ति, (४) पराक्रम, मोक्ष, दिव्य गुण, (५) पालन, पाप से रक्षा, (६) पाप-निवारण, ऐश्वर्य-प्राप्ति, (७) पुष्टि, शत्रु-विनाश, ऐश्वर्य, (८) माया-ध्वंस, राक्षस-विनाश, (९) धन, बल, शत्रु से रक्षा, (१०) पुत्र-पौत्रों से युक्त घर, (११) अकीर्ति, पाप और दर्प का नाश, (१२) धन, तेज, यश, (१३) बल, शत्रु-पराजय, ऐश्वर्य, (१४) यश, गोधन, (१५) गोधन की प्राप्ति और रक्षा, (१६) रोगों और पापों से मुक्ति, (१७) घोड़े, यश, पापमुक्ति, (१८) धन, पुत्र, विजय, तेज, वृद्धि, यश, (१९) सद्विचार, सत्कर्म, धन, (२०) रोगनिवारक सामर्थ्य, (२१) पाप-नाश, दुग्ध, अन्न, धन, यश, पुत्र, (२२) सहस्र लाभ, (२३) रोग एवं कामक्रोधादि का विनाश, (२४) गृहरक्षा, तेज, बल, वृष्टि, रोगनिरोधक शक्ति, (२५) कल्याण, भद्रता, प्रशस्ति, (२६) मोक्ष, योगसिद्धि, (२७) इच्छासिद्धि, (२८) प्राण एवं इन्द्रियों की शक्ति, (२९) दीर्घ जीवन, बुद्धि-वृद्धि, (३०) अन्न, कीर्ति, सन्तान, (३१) स्थिर ऐश्वर्य, पुत्र, (३२) अमति-कुमति-विनाश, कल्याण, (३३) गृह-रक्षा, तेज, (३४) शरीर-रक्षा, दीर्घायुष्य, वर्चस्, अंगों की पूर्णता, (३५) दीर्घायुष्य, वर्चस्, सन्तान, धन-पुष्टि, (३६) आनन्द, रक्षा, प्रबोध, (३७) सच्चरित्र, उत्तम आयु, आनन्दामृत (३८) कल्याण, मोक्ष, (३९) प्रजनन-शक्ति, स्वास्थ्य आदि, (४०) प्रबोध, ऐश्वर्य, क्षत्यभाव, यश; अयाज्ञिक की निन्दा।

### प्रथम अध्याय

# यज्ञ और अग्निहोत्र के विषय में सामान्य विचार

'यज्ञ' शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थवाली यज धातु से नङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जिस कर्म में परमेश्वर का पूजन, विद्वानों का सत्कार, संगतिकरण अर्थात् मेल और हवि आदि का दान किया जाता है, उसे यज्ञ कहते हैं।[1] अग्नि और होत्र मिलकर 'अग्निहोत्र' शब्द बनता है।[2] जिस कर्म में श्रद्धापूर्वक निर्धारित विधि के अनुसार मन्त्रपाठसहित अग्नि में आहुति दी जाती है, उसका नाम 'अग्निहोत्र' है।

## अग्निहोत्र आवश्यक कर्त्तव्य

अग्निहोत्र वैदिक संस्कृति में प्रत्येक मनुष्य के लिए एक आवश्यक कर्तव्य है। शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है—'ब्रह्म ने सभी प्रजाओं को मृत्यु के लिए दे दिया, केवल ब्रह्मचारी को नहीं दिया। मृत्यु ब्रह्म से बोला कि ब्रह्मचारी में भी मेरा भाग होना चाहिए। ब्रह्म ने कहा कि जिस रात्रि ब्रह्मचारी अग्नि में समिधा न देगा, उस रात्रि उसमें तेरा भाग होगा। अतः जिस रात्रि ब्रह्मचारी समिदाधान नहीं करता, उस

---

१. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, भ्वादि 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो' नङ् पा० ३.३.९० से नङ् प्रत्यय। इज्यते देवपूजनं सङ्गतिर्दानं च क्रियते यत्र स यज्ञः।

२. अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तद् अग्निहोत्रम्—पञ्चमहायज्ञविधि, यज्ञप्रकरण।

रात्रि मृत्यु उसकी आयु से कुछ अंश ले लेता है।[१] इस कथा से ब्राह्मणकार ने ब्रह्मचारी के लिए अग्निहोत्र की अनिवार्यता को ही बताया है। मनु ने भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में अग्निहोत्र को विशेष स्थान दिया है।[२] गृहस्थ आश्रम में पंच महायज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ को करने होते हैं, जिनमें देवयज्ञ या अग्निहोत्र भी है।[३] वानप्रस्थाश्रम में भी अग्निहोत्र नहीं छूटता।[४] संन्यास आश्रम में यद्यपि भौतिक अग्निहोत्र की अनिवार्यता नहीं रहती, तथापि आत्मिक अग्निहोत्र संन्यासी को भी करना ही होता है।[५]

शतपथ में लिखा है कि अग्निहोत्र 'जरामर्य सत्र' है, अर्थात् या तो शरीर के नितान्त जीर्ण और अशक्त हो जाने पर इससे छुटकारा मिलता है, या मृत्यु के उपरान्त।[६] शतपथ में ही यह भी कहा है कि 'अन्य सब यज्ञ तो एक न एक दिन समाप्त हो जाते हैं, फिर उनकी कर्तव्यता नहीं रहती, किन्तु अग्निहोत्र कभी समाप्त नहीं होता। सायं अग्निहोत्र कर चुकने पर अग्निहोत्री की यह भावना होती है कि प्रातः फिर करूँगा, प्रातः अग्निहोत्र करके वह यह सोचता है कि सायं फिर करूँगा। इस प्रकार ज़ो अग्निहोत्र को अन्त न होनेवाला मानकर करता है, वह अनन्त श्री और प्रजा वाला हो जाता है।[७]

१. शत० ११.३.३.१
२. अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम्। मनु० २.१०८
३. अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। मनु० ४.२५
४. अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्। मनु० ६.४
५. आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्। मनु० ६.३८
६. एतद्वै जरामर्यं सत्त्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा। श०ब्रा० १२.४.१.१
७. सम् एवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्ते। अग्निहोत्रमेव न संतिष्ठते। अपि द्वादश संवत्सरम् अन्तवदेव। अथैतदेवाऽनन्तम्। सायं हि हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामीति, प्रातर्हुत्वा वेद पुनः सायं होष्यामीति। तदेतद् अनुपस्थितम् अग्निहोत्रम्। तस्यानुपस्थितिमनु अनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। अनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतद् अनुपस्थितमग्निहोत्रं वेद। श०ब्रा० २.३.१.१०

शतपथ के ही एक कथानक के अनुसार—'प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया और अग्नि को भी। अग्नि उत्पन्न होते ही सबको जलाने लगी। यह देख सब उसे बुझाने लगे। तब वह पुरुष के पास आई और उसने यह समझौता किया कि मैं तुझी में प्रविष्ट हो जाती हूँ, तू मुझे उत्पन्न और धारण किया कर। जैसे तू इस लोक में मुझे उत्पन्न और धारण करेगा, वैसे ही मैं तुझे परलोक में उत्पन्न और धारण करूँगी। तदनुसार यजमान जब अग्न्याधान करता है, तब अग्नि को उत्पन्न और धारण करता है। अग्नि बदले में उसका परलोक सुधार देती है, अर्थात् उसे उच्च कुल में मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, या वह मुक्त हो जाता है।'[१] इस कथानक में अग्निहोत्र को मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य बताने के साथ-साथ अग्निहोत्र का फल भी बताया गया है।

वेदों के भी अनेक मन्त्र मनुष्य को अग्निहोत्र के लिए प्रेरित करते हुए अग्निहोत्र की अवश्यकर्तव्यता की ओर इंगित करते हैं, यथा—

**स्वाहा यज्ञं कृणोतन ॥**[२]

स्वाहापूर्वक यज्ञ करो।

**यज्ञेन वर्धत जातवेदसम् ॥**[३]

यज्ञ से अग्नि को बढ़ाओ।

**समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥**[४]

समिधा से अग्नि को पूजित करो, घृतों से उस अतिथि को जगाओ।

**सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ॥**[५]

सुप्रदीप्त अग्निज्वाला में तप्त घृत की आहुति दो।

---

१. शत० २.३.३.१-२
२. ऋग्० १.१३.१२
३. ऋग्० २.२.१
४. यजु० ३.१
५. यजु० ३.२

**अग्निमिन्धीत मर्त्यः ॥**[१]

मनुष्य को चाहिए कि वह यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करे।

**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत ॥**[२]

सब मिलकर अग्निहोत्र करो।

महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—'होम का करना अत्यावश्यक है।....आर्यवर-शिरोमणि महाशय ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।'[३]

## अग्निहोत्र का काल

अग्निहोत्र सायं-प्रातः दोनों समय करना होता है। प्रमाणास्वरूप स० प्र०, समु० ४ में स्वामी जी ने अथर्ववेद के निम्न-मन्त्र उद्धृत किये हैं—

**सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥ १ ॥**
**प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥ २ ॥**[४]

अर्थ यह किया है—जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥ १ ॥ जो अग्नि में प्रातः-प्रातःकाल में होम किया जाता है, वह-वह हुत द्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्य कारक होता है ॥ २ ॥

ऋग्वेद में कहा है—

---

१. साम० ८२
२. अथर्व० ३.३०.६
३. स० प्र० समु० ३, देवयज्ञ प्रकरण
४. अथर्व० १९.५५.३, ४

**उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥**[1]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) बुद्धि और सद्विचारपूर्वक (नमः[2]) हविष्यान्न को (भरन्तः[3]) लाते हुए (त्वा उप एमसि) तेरे समीप आते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि सायं-प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।[4] स्वामी जी लिखते हैं— "जो ये दोनों काम (परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र) सायं और प्रातःकाल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कार्यों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें।"[5]

इस प्रकार सायं-प्रातः दोनों समय अग्निहोत्र का विधान है। तथापि आजकल के बहुधंधी युग में जो दोनों कालों में अग्निहोत्र करने के लिए समय नहीं निकाल सकते, उन्हें दृष्टि में रखकर पंचमहायज्ञविधि में एक काल का विकल्प भी स्वामी जी ने दिया है। 'अग्निर्ज्योतिः' आदि सायंकालीन चार मन्त्रों का उल्लेख करने के पश्चात् वहाँ स्वामी जी ने लिखा है—**एताभिः सायं-कालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा।** अर्थात् 'इन चार आहुतियों को सायंकाल अग्निहोत्र में करना चाहिए, अथवा एक समय में आठों से।'

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रातः और सायं से कौन-से विशिष्ट काल अग्निहोत्र के लिए अभिप्रेत हैं?

---

१. ऋग्० १.१.७
२. नमः=अन्न (निघं० २.७)।
३. भरन्त=हरन्तः। हृञ् हरणे। हृग्रहोर्भश्छन्दसि, वार्तिक, पा० ३.१.८४।
४. अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः। तै० आ० १०.६३.१
५. स०प्र०, समु० ४, अग्निहोत्रप्रकरण। यह मनु० २.१०३ के इस श्लोक का अनुवाद है—न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

प्रातः से सूर्योदय-पूर्व का काल समझें या सूर्योदय-पश्चात् का? इसी प्रकार सायं से सूर्यास्त-पूर्व का काल गृहीत करें या सूर्यास्त-पश्चात् का? प्राचीन अग्निहोत्र-प्रक्रिया के अनुसार सूर्योदय-पूर्व (जब तारे दीखते हों), सूर्योदय-पश्चात्, और समयाध्युषित (जब तारे दीखने बन्द हो जाएँ, किन्तु सूर्य न निकला हो) इन कालों में विकल्प था।[1] जो अग्निहोत्री जिस काल को स्वीकार कर लेता था, उसे आयुपर्यन्त उसी काल का निर्वाह करना होता था। किन्तु सायंकाल का अग्निहोत्र सूर्यास्त के पश्चात् ही होता था। प्रातः-सायं से कौन-सा काल गृहीत किया जाए, इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में निम्न संकेत दिये हैं—

१. *ऋ० भा० भू०, पञ्चमहायज्ञविषय*—इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके····।

२. *पंच० म० वि०*—ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे।···सन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है।

३. *स० प्र०, समु० ३*—सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र का भी समय है।

४. *स० प्र०, समु० ४*—दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

५. *सं० वि०, गृहाश्रमविधि*—जैसे सायं-प्रातः दोनों सन्धि-वेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।

इन वचनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि—
१. सन्ध्योपासना दोनों समय सन्धि-वेलाओं में की जाती है।

---

१. उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ मनु० २.१५

२. दोनों समय सन्ध्योपासना करने के पश्चात् ही अग्निहोत्र का समय है। ३. प्रातःकालीन अग्निहोत्र सन्धिवेला अर्थात् उषःकाल के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए। ४. सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त से पूर्व करना लिखा है। परन्तु जब सन्ध्योपासना सायं-सन्धिकाल में की जाएगी और अग्निहोत्र उसके पश्चात् करना होगा, तब अग्निहोत्र सूर्यमण्डल के अस्त हो जाने पर ही घटित हो सकता है। इस स्थिति में 'सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र का समय है', यह वचन प्रथम दृष्टि में असंगत प्रतीत होता है। इसकी संगति इस प्रकार लग सकती है कि पूर्ण सूर्यास्त तब समझना चाहिए, जब आकाश में तारे दीखने आरम्भ हो जाएँ। क्योंकि सायंकालीन अग्निहोत्र तारादर्शन से पूर्व ही करना अभीष्ट है, अतः वह 'सूर्यास्त से पूर्व' ही कहलाएगा, किन्तु सूर्यमण्डल के क्षितिज में अस्त होने के पश्चात् होगा।

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के विषय में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि सूर्योदय के पश्चात् का समय दिन कहलाता है, और दिन का संबंध देवों से है। देव अपहृत पाप वाले होते हैं, अतः जो सूर्योदय के पश्चात् अग्नि को मथता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है। देव अमर होते हैं। सूर्योदय के पश्चात् अग्निहोत्र करनेवाला अमर तो नहीं होता, किन्तु पूर्ण आयु प्राप्त कर लेता है। देव श्री से युक्त हैं, अतः वह भी श्री पा लेता है। देव यशस्वी हैं, अतः वह भी यशस्वी हो जाता है।[१]

## अग्निहोत्र स्वर्ग्य नौका

शतपथ में अग्निहोत्र को स्वर्ग (सुख या मोक्ष) प्राप्त करानेवाली नौका कहा गया है।[२] अग्रांकित वेदमन्त्र भी ऐसी

---

१. अपहृत पाप्मानो देवाः, अप पाप्मानं हते। अमृता देवाः, न अमृतत्वस्याशास्ति, सर्वमायुरेति। श्रीर्देवाः, श्रियं गच्छति। यशो देवाः, यशो ह भवति य एवं विद्वान् उदिते मन्थति। श० ब्रा० २.१.४.९

२. नौर्हि एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्। श० ब्रा० २.३.३.१५

यज्ञरूप नौका का वर्णन करता है, जिस पर आरोहण करने से स्वस्ति की प्राप्ति होती है—

**सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसंसुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्त्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥**[1]

(सुत्रामाणं) उत्तम रक्षा करनेवाली, (पृथिवीं) विशाल, (द्याम्) दीप्तिमयी, (अनेहसम्) पापरहित, (सुशर्माणं) शुभकल्याणदायिनी, (अदितिं) खंडित न होनेवाली, (सुप्रणीतिं) उत्तम रूप से आगे ले जानेवाली, (स्वरित्रां) यज्ञविधि-रूप उत्तम चप्पुओं वाली, (अनागसं) दोषरहित, (अस्त्रवन्तीं) न चूनेवाली (दैवीं नावं[2]) यज्ञरूपिणी दिव्य नौका पर (स्वस्तये[3]) सुख की प्राप्ति के लिए (आरुहेम) हम आरोहण करें।

## मन्त्रोच्चारण और मानसिक ध्यान

वेद कहता है कि यज्ञ में बैठकर अग्नि में होम करने के साथ-साथ मन्त्रोच्चारण भी करें—**उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।**[4] अपने मन को भी प्रवृत्त करें—**अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।**[5] इससे क्या होगा? वायुशुद्धि और रोग-निवारण का लाभ तो बिना मन्त्रोचारण और बिना मानसिक ध्यान के भी हो सकता है। परन्तु अग्निहोत्र का प्रयोजन केवल वायुशुद्धि या रोगनिवारण ही नहीं है। वाणी से मन्त्रों को बोलते हुए और मन से उन मन्त्रों का अर्थ-चिन्तन करते हुए एवं विहित विधियों का अभिप्राय हृदयंगम करते

---

१. यजु० २१.६
२. दैवीं यज्ञमयीं नावम्—उवट।
३. स्वस्तये अविनाशाय—उवट।
४. तुलनीय : अग्निं वर्धन्तु नो गिरः, ऋग्० ३.१०.६, अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा, यजु० ३.४७।
५. तुलनीय : अग्निं हिन्वन्तु नो धियः, ऋग्० १०.१५६.१।

हुए हम जो आत्मिक भोजन प्राप्त करते हैं, वह भी अग्निहोत्र की एक महत्त्वपूर्ण देन है। विधियों और मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान की गई है। पाठक देखेंगे कि उन विधियों एवं मन्त्रों में कैसा चमत्कार भरा पड़ा है। हम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए और तद्गत भावनाओं से अपने हृदय को आपूरित करते हुए होम करेंगे, तो हम अनुभव करेंगे कि अग्निहोत्र के आधे घंटे में ही हमने कितनी बड़ी उपलब्धि कर ली है, हमारा मन कितना प्रफुल्ल, उत्साहित और पूर्णता के लिए अग्रसर हो उठा है।

इस प्रश्न के उत्तर में कि 'होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध हो सकता है, फिर वेदमन्त्रों के पढ़ने से क्या लाभ?' स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है, तथा होम से जो-जो फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के बारंबार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है। ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र हो ही जाती है।"[१]

"मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाएँ, और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेद-पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।"[२]

## अग्निहोत्र की व्यापकता

जैसे हम भौतिक अग्नि में हव्य की आहुति देकर अग्निहोत्र करते हैं, वैसे अन्य क्षेत्रों में भी अग्निहोत्र हो रहा है। परमात्मरूपी अग्नि में जीवात्मा, प्राण, मन, बुद्धि एवं

---

१. ऋ०भा०भू०, वेदविषयविचार, कर्मकाण्ड प्रकरण।
२. स०प्र०, समु० ३।

इन्द्रियों को समर्पित करना आत्मिक अग्निहोत्र कहलाता है। बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ अग्निहोत्री को यह आत्मिक अग्निहोत्र भी करना होता है, तभी अग्निहोत्र की पूर्णता होती है। प्रस्तुत पुस्तक में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या में आत्मिक अग्निहोत्र को भी यत्र-तत्र स्पष्ट कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्तिम दृश्य में भी आत्मिक अग्निहोत्र का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

अधिदैवत में भी अग्निहोत्र हो रहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार पृथिवी अग्नि है, संवत्सर उसकी समिधा है; आकाश धुआँ है, रात्रि ज्वाला है; दिशाएँ अंगारे हैं, अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। उस पृथिवीरूप अग्नि में वर्षा-जल की आहुति पड़ती है। उससे अन्नरूप फल उत्पन्न होता है।

**पृथिवी वाव गौतम अग्निः, तस्याः संवत्सर एव समिद्, आकाशो धूमः, रात्रिः अर्चिः, दिशोऽङ्गाराः, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेः अन्नं संभवति॥**[1]

मनुष्य के शरीर में प्राणाग्निहोत्र हो रहा है। पुरुष ही अग्नि है, वाणी उसकी समिधा है, प्राण धुआँ है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में अन्न की आहुति पड़ती है। उससे रेतस्-रूप फल उत्पन्न होता है।

**पुरुषो वाव गौतम अग्निः, तस्य वागेव समित्, प्राणो धूमः, जिह्वा अर्चिः, चक्षुः अङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति। तस्या आहुतेः रेतः संभवति॥**[2]

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राणाग्निहोत्र का एक अन्य स्थान पर भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। ऋषि कहते हैं कि जो अन्न भोजनार्थ आए, अग्निहोत्र-बुद्धि से उसका सेवन

---

१. छा० उ० ५.६

२. छा० उ० ५.७

करे। प्रथम आहुति प्राण को दे—**प्राणाय स्वाहा।** द्वितीय आहुति व्यान को दे—**व्यानाय स्वाहा।** तृतीय आहुति अपान को दे—**अपानाय स्वाहा।** चौथी आहुति समान को दे—**समानाय स्वाहा।** पाँचवीं आहुति उदान को दे—**उदानाय स्वाहा।** जो अग्निहोत्र की भावना से भोजन करता है, उसके भोजन से केवल उसी की तृप्ति नहीं होती, किन्तु वैश्वानर महान् आत्मा की तृप्ति होती है। उससे सब आत्माओं को हवि पहुँचती है।

**अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति॥**[1]

इसी प्रकार 'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम'[2] की भावना से राष्ट्र की अग्नि में अपने तन, मन या धन की आहुति देना राष्ट्राग्निहोत्र है। आचार्यरूप अग्नि में प्रदीप्त होने के लिए शिष्य का अपने-आपको समिधा बनाकर अर्पित करना आचार्याग्निहोत्र है।[3] एवं प्रत्येक क्षेत्र में अग्निहोत्र हो रहा है। उसी का एक प्रतीक हमारा दैनिक अग्निहोत्र है।

## अग्निहोत्र के लाभ

अग्निहोत्र के लाभों की सूची अनन्त है। वायुशुद्धि, आरोग्य, दीर्घायुष्य, वर्षा, दूध, अन्न, धन, बल, ऐश्वर्य, सन्तान, पुष्टि, निष्पापत्व, सच्चरित्रता, जागृति, शत्रुविनाश, आत्मरक्षा, यश, तेजस्विता, वर्चस्विता, सद्विचार, सत्कर्म, इन्द्रियशक्ति, आनन्द, परिपूर्णता, मोक्ष आदि की प्राप्ति अग्निहोत्र से बताई गई है। इनमें से कुछ लाभ साक्षात् सुगन्धित, पुष्टिप्रद, मिष्ट, रोगनाशक हव्यों की आहुति से

---

१. छा० उ० ५.२.१९-२४
२. अथर्व० १२.१.६२
३. द्रष्टव्य : वेदारम्भ संस्कार में 'अग्नये समिधमाहार्षं' (पार० गृह्य० २.४.३) मन्त्र से बालक द्वारा समिदाधान की विधि।

प्राप्त होते हैं, कुछ परमात्माग्नि एवं यज्ञाग्नि के गुणों का चिन्तन करने तथा उसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने से होते हैं।

यजुर्वेद, अध्याय १८ में यज्ञ से प्राप्त होनेवाले लाभों की एक विस्तृत सूची दी गई है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

**ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥**[1]

अर्थात् सत्याचरण, अमृतत्व, यक्ष्माभाव, आरोग्य, जीवन, दीर्घायुष्य, अशत्रुत्व, अभय, सुख, अच्छी निद्रा, शोभन उषा, सुदिनत्व ये सब हवन-यज्ञ द्वारा मुझे प्राप्त हों।

**आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पताम्॥**[2]

अर्थात् आयु हवन-यज्ञ से समर्थ हो, प्राण हवन-यज्ञ से समर्थ हो, चक्षु हवन-यज्ञ से समर्थ हो, श्रोत्र हवन-यज्ञ से समर्थ हो, वाणी हवन-यज्ञ से समर्थ हो, मन हवन-यज्ञ से समर्थ हो, आत्मा हवन-यज्ञ से समर्थ हो।

तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र के लाभों के विषय में विशेष रूप से अनेक वेदमन्त्र हम अर्थसहित प्रस्तुत करेंगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ एवं अग्निहोत्र के महत्त्व आदि पर अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पञ्चमहायज्ञ-विधि, सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि में विशेष लिखा है। इन ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

## चतुर्विध हव्य और इनके होम का फल

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है

---

१. यजु० १८.६
२. यजु० १८.२९

उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है—एक सुगन्ध-गुणयुक्त जो कस्तूरी-केशरादि हैं, दूसरे मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरे पुष्टिकारक-गुण-युक्त जो कि घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं, और चौथे रोगनाशक-गुणयुक्त जोकि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे सब जगत् का सुख होता है।"[१]

"केशर-कस्तूरी आदि सुगन्ध, घृत-दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़-शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि ओषधी रोगनाशक—जो ये चार प्रकार के **बुद्धिवृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य** करनेवाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र-कर्म करनेवाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।"[२]

**होम के द्रव्य चार प्रकार**—"(प्रथम सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। (तीसरे मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। (चौथे रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ।"[३]

---

१. ऋ०भा०भू०, वेदविषयविचार।
२. पं०म०य०विधि, अग्निहोत्रप्रकरण।
३. सं०वि०, सामान्य प्रकरण।

## स्थालीपाक

"होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिए, अर्थात् सबको यथावत् शोध-छान, देख-भाल सुधार कर करें। सब द्रव्यों को यथायोग्य मिलाके पाक करना। जैसे कि सेरभर घी के मोहनभोग में रत्ती-भर कस्तूरी, मासेभर केसर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेरभर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खीचड़ी, मोदक आदि होम के लिए बनावे।"[१]

## शोधित घृत एवं आहुति-परिमाण

"घृत को गर्म कर छान लेवे और एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक माशा केशर पीसके मिलाकर...रख छोड़ें। घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो उतने शोधे हुए घी को निकालकर अग्नि में तपाके सामने रख लेवे।"[२]

"उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रखा हो, कम से कम ६ मासाभर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो, अधिक से अधिक छटांकभर की आहुति देवे।"[३]

## यज्ञ-समिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आँब, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-छोटी कटवा लेवे। परन्तु ये समिधा कीड़ा-लगी, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।[४]

---

१. सं०वि०, सामान्य प्रकरण।
२. पं०म०य०विधि, देवयज्ञ प्रकरण।
३. सं०वि०, सामान्य प्रकरण।
४. सं०वि०, सामान्य प्रकरण।

## यज्ञ-कुण्ड का परिमाण

"उसके (अग्निहोत्र के) लिए सोना, चाँदी, तांबा, लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिए, जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहिरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा-चौड़ा रहे।"[१]

"उसके (अग्निहोत्र के) लिए किसी धातु वा मिट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोर, उतनी ही गहिरी, और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे, अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहे।"[२]

बड़े यज्ञों के लिए स्वामी जी ने संस्कारविधि में निम्नोक्त परिमाण लिखा है[३]—

"जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार-चार हाथ का चारों ओर समचौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में एक-एक हाथ चौकोण लम्बा-चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहिरा-चौड़ा कुंड बनाना। परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ अधिक अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त परिमाण का चौड़ा और समचौरस कुण्ड बनाना।"

"और जो पचास हजार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहिरा और समचौरस और पौन हाथ नीचे। तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे। दश हजार आहुति तक इतना ही अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे रखना। पाँच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहिरा समचौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे।"

"यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है। यदि

---

१. पं०म०य० विधि, देवयज्ञ प्रकरण।
२. स०प्र०, तृतीय समु०।
३. सं०वि०, सामान्य प्रकरण।

इसमें ढाई हजार (२५००) आहुति मोहनभोग और ढाई हजार (२५००) घृत की देवे तो दो ही हस्त का चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रखे। चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहिरा समचौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे। और इन कुण्डों में १५ अंगुल की मेखला अर्थात् पाँच-पाँच अंगुल की ऊँची तीन बनावे और वे तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम पाँच अंगुल ऊँची और पाँच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावे।"

निष्कर्ष यह है कि आवश्यकता और सुविधा के अनुसार ऊपर जितना परिमाण चारों ओर रखना हो उतना ही गहरा रखे और नीचे चारों ओर उसका चतुर्थांश हो।

### यज्ञपात्र

"अग्निहोत्र करने के लिए ताम्र वा मिट्टी की वेदि बनाके काष्ठ, चाँदी वा सोने का चमसा, अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके···नित्य होम करें।"[१]

"एक **चमसा** जिसकी डण्डी सोलह अंगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठी की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा-चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे। सो भी सोना, चाँदी व पलाशादि लकड़ी का हो। एक **आज्यस्थाली** अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चाँदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक **जल का पात्र** तथा एक **चिमटा**।"[२]

"एक **प्रोक्षणीपात्र**, दूसरा **प्रणीतापात्र**, और एक **आज्यस्थाली** अर्थात् घृत रखने का पात्र और चमसा सोने, चाँदी वा काष्ठ का बनवाके प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा

---

१. ऋ०भा०भू०, वेदविषयविचार, अग्निहोत्र प्रकरण।
२. पं०म०य० विधि, देवयज्ञ प्रकरण।

घृतपात्र में घृत रखके घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिए है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है।''[१]

संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में लिखा है कि "विशेषकर चाँदी अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहिएँ।" वहाँ अनेक पात्रों के लक्षण तथा चित्र भी दिये हैं, जो पात्र श्रौत यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं।

## यज्ञ छौंक के समान उपकारी

"जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपाके उनमें छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्धद्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों की पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है। इससे यह यज्ञ परोपकार के लिए ही होता है।''[२]

## होम से उपकार-विषयक प्रश्नोत्तर[३]

**प्रश्न**—होम से क्या उपकार होता है?

**उत्तर**—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

**प्रश्न**—चन्दनादि घिसके किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट

---

१. स०प्र०, तृतीय समु०।
२. ऋ०भा०भू०, वेदविषयविचार, अग्निहोत्र प्रकरण।
३. स०प्र०, तृतीय समु०।

करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

**उत्तर**—जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख-विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खाएँ, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिए। परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है। इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

**प्रश्न**—जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।

**उत्तर**—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेद-शक्ति नहीं है। और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकालकर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।

## स्त्री-पुरुष दोनों समय अग्निहोत्र करें

"जैसे सायं-प्रातः दोनों सन्धि-वेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।" इस पर स्वामी जी ने स्वयं नीचे यह टिप्पणी दी है—

"किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के

समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें, तो एक ही स्त्री या पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे, अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़के दो-दो आहुति करे।"[1]

## एक समय का विकल्प

**"पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्त-मन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात्"** अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।"[2]

**"एताभिः ( ओम् अग्निर्ज्योतिरित्यादिभिः चतसृभिः ऋग्भिः ) सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा।"** अर्थात् इनसे (ओम् अग्निर्ज्योति० इत्यादि चार ऋचाओं से) सायंकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं, अथवा एक ही काल में सबसे।[3]

## यज्ञ की परिभाषा

यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें १. विद्वानों का सत्कार, २. यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जोकि पदार्थविद्या उससे उपयोग, और ३. विद्यादि शुभगुणों का दान, ४. अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टिजल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।[4]

यह चार प्रकार का यज्ञ यज धातु के देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थों के आधार पर स्वामी जी ने माना है। धात्वर्थ के ही आधार पर आर्योद्देश्यरत्नमाला (४७) में यज्ञ की परिभाषा इस प्रकार है—

---

१. सं०वि०, गृहाश्रम विधि, अग्निहोत्र प्रकरण।
२. ऋ०भा०भू०, वेदविषयविचार, अग्निहोत्र प्रकरण।
३. ऋ०भा०भू० तथा पं०म०य०विधि, अग्निहोत्र प्रकरण।
४. स०प्र०, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश २८।

"जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त, वा जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थविज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं।"

यजुर्वेद मन्त्र २ के भाष्य में भी धात्वर्थ के योग से तीन प्रकार का यज्ञ माना है जिसमें अग्निहोत्र प्रत्यक्षतः नहीं परिभाषित है। वहाँ १. विद्वानों का सत्कार, २. पदार्थों के संगतिकरण द्वारा शिल्पविद्या का प्रत्यक्षीकरण और विद्वानों का संगतिकरण, और ३. शुभ विद्या, सुख, धर्मादि गुणों का नित्य दान करना वर्णित है। होम में भी हवि का अग्नि में दान होने से दान में अग्निहोत्र भी आ जाता है।

## वेदभाष्य में यज्ञ के लाभ

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के स्वकृत भाष्य में भी, विशेषतः भावार्थ में, यज्ञ एवं अग्निहोत्र के महत्त्व, लाभ आदि पर प्रकाश डाला है। अतः उनके वेदभाष्य से हम कुछ भावार्थ उद्धृत कर रहे हैं[1]—

"जब अग्नि में सुगन्धि आदि पदार्थों का हवन होता है, तभी यह यज्ञ वायु आदि पदार्थों को शुद्ध करके तथा शरीर और ओषधि आदि पदार्थों की रक्षा करके अनेक प्रकार के रसों को उत्पन्न करता है। उन शुद्ध पदार्थों के भोग से प्राणियों के विद्या, ज्ञान और बल की वृद्धि भी होती है।"[2]

"जो यज्ञ के धूम से शोधे हुए पवन हैं, वे अच्छे राज्य के करानेवाले होकर रोग आदि दोषों का नाश करते हैं। और जो अशुद्ध अर्थात् दुर्गन्ध आदि दोषों से भरे हुए हैं वे सुखों का नाश करते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिए कि "अग्नि में

---

१. भावार्थ मूलतः संस्कृत में है, पण्डितों ने उसका हिन्दी में अनुवाद किया था। हमने सुबोधता तथा शुद्धता की दृष्टि से हिन्दी भाषा में कहीं-कहीं संशोधन किया है।

२. ऋ०भाष्य १.१३.२

होम द्वारा वायु की शुद्धि से अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें।"[१]

"मनुष्यों को योग्य है कि यज्ञविधि से सब पदार्थों का अच्छे प्रकार शोधन करके, सबका सेवन कर और रोगों का निवारण करके सदैव सुखी रहें।"[२]

"यदि यजमान और यज्ञ करानेवाले विद्वान् हों और सुशोधित द्रव्यों को अग्नि में होमें, तो क्या-क्या सुख प्राप्त न हो!"[३]

"मनुष्यों को चाहिए कि वे आप्त विद्वानों के संग से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करनेवाले यज्ञ का विस्तार करें।"[४]

"जो यज्ञ से शुद्ध किये हुए अन्न, जल और पवन आदि पदार्थ हैं, वे सबकी शुद्धि, बल, पराक्रम और दृढ दीर्घ आयु के लिए समर्थ होते हैं। इससे सब मनुष्यों को यज्ञकर्म का अनुष्ठान नित्य करना चाहिए।"[५]

"मनुष्यों को इस प्रकार का यज्ञ सदैव करना चाहिए, जो पूर्ण श्री, संपूर्ण आयु, अन्नादि पदार्थ, रोगनाश और सब सुखों का विस्तार करता है। वह किसी को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।"[६]

"मनुष्यों द्वारा भलीभाँति संपादित यह यज्ञ, जिसमें अग्नि द्रव्यों को ऊपर फेंकता है, सूर्य की किरणों में स्थित होकर, वायु से धृत होकर, सर्वोपकारी होकर हजारों सुख प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करनेवाला होता है।"[७]

---

१. ऋ०भाष्य १.१९.५
२. ऋ०भाष्य १.११२.९
३. ऋ०भाष्य ३.४.४
४. ऋ०भाष्य ५.१३.४
५. य०भाष्य १.२०
६. य०भाष्य १.२२
७. य०भाष्य १.२४

"मनुष्य अग्नि में जो आहुति देते हैं, वह वायु के साथ मेघमण्डल में जाकर सूर्य से आकर्षित जल को शुद्ध करती है। फिर वहाँ से वह जल पृथिवी पर आकर ओषधियों को पुष्ट करता है। वह उक्त आहुति वेदमन्त्रों से ही करनी चाहिए, जिससे उसका फल–ज्ञान होने पर नित्य श्रद्धा उत्पन्न हो।"[१]

"जिस यज्ञ से सब सुख होते हैं, उसका अनुष्ठान सब मनुष्यों को क्यों न करना चाहिए?"[२]

"जो मनुष्य अग्निहोत्र आदि यज्ञों को प्रतिदिन करते हैं, वे समस्त संसार के सुखों को बढ़ाते हैं, यह जानना चाहिए।"[३]

"होम–नामक यज्ञ वह है, जिसमें मांस, क्षार, अम्ल, तिक्त आदि गुणों से रहित, किन्तु सुगन्धि, पुष्ट, मिष्ट, रोगनाशक आदि गुणों से युक्त हवि हो।"[४]

"जो मनुष्य यज्ञ से शुद्ध किये जल, ओषधि, पवन, अन्न, पत्र, पुष्प, फल, रस, कन्द अर्थात् अरबी, आलू, कसेरू, रतालू, शकरकन्द आदि पदार्थों का भोजन करते हैं वे नीरोग होकर बुद्धि, बल, आरोग्य और दीर्घायु वाले होते हैं।"[५]

"मनुष्य नित्य सुगन्ध्यादि पदार्थों को अग्नि में छोड़ अर्थात् हवन कर, पवन और सूर्य की किरणों द्वारा वनस्पति, ओषधि, मूल, शाखा, पुष्प और फलादिकों में प्रवेश कराके सब पदार्थों की शुद्धि कर आरोग्य की सिद्धि करें।"[६]

"मनुष्यों को चाहिए कि जीवनपर्यन्त शरीर, प्राण,

---

१. य०भाष्य २.१६
२. य०भाष्य ८.६०
३. य०भाष्य १८.४२
४. य०भाष्य २९.८१
५. य०भाष्य २२.२३
६. य०भाष्य २२.२८

अन्तःकरण, दशों इन्द्रियाँ और जो सबसे उत्तम सामग्री हो उसको यज्ञ के लिए समर्पित करें, जिससे पापरहित कृतकृत्य होके परमात्मा को प्राप्त होकर इस जन्म और द्वितीय जन्म में सुख को प्राप्त होवें।''[१]

''हे मनुष्यो! सब यज्ञों में अग्नि आदि को ही पशु जानो। प्राणी इन यज्ञों में मारने योग्य नहीं, न होमने योग्य हैं। जो ऐसा जानकर सुगन्ध्यादि द्रव्यों को सुसंस्कृत करके अग्नि में होम करते हैं, उनके वे द्रव्य वायु और सूर्य को प्राप्त होकर वर्षा द्वारा वहाँ से लौटकर ओषधी, प्राण, शरीर और बुद्धि को क्रमशः प्राप्त होकर सब प्राणियों को आनन्द देते हैं। इस यज्ञ-कर्म के करनेवाले पुण्य के महत्त्व से परमात्मा को प्राप्त होकर महिमान्वित होते हैं।''[२]

## स्वामी दयानन्द-कृत अग्निहोत्र-विधि

स्वामी जी के जिन ग्रन्थों में अग्निहोत्र का निरूपण मिलता है, वे रचनाकाल की दृष्टि से क्रमशः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (संवत् १९३३), पञ्चमहायज्ञविधि (संवत् १९३४), सत्यार्थप्रकाश (संवत् १९३९) तथा संस्कारविधि (संवत् १९४०) हैं।[३] इनमें से प्रथम तीन ग्रन्थों के अग्निहोत्र-प्रकरण में अग्न्याधान, समिदाधान, जलसेचन आदि के मन्त्रों का कोई उल्लेख नहीं है। यज्ञकुण्ड में अग्निप्रदीपन के पश्चात् होम के केवल ये मन्त्र लिखे हैं— प्रातःकाल के 'सूर्यो ज्योतिर्' आदि चार, सायंकाल के 'अग्निर् ज्योतिर्' आदि चार, उभयकाल के 'ओं भूरग्नये

---

१. य०भाष्य २२.३३
२. य०भाष्य २३.१७
३. इनमें से अन्तिम तीन के प्रथम संस्करण पहले छप चुके थे। उनके स्थान पर स्वामी जी ने नवीन संस्करण निकाले थे। उक्त काल संशोधित नवीन संस्करणों का है।

प्राणाय स्वाहा' आदि चार, 'ओमापो ज्योती रसो' आदि एक और अन्त में 'ओं सर्वं वै' आदि पूर्णाहुति एक। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में केवल 'ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से होम करना लिखा है तथा यह निर्देश दिया है कि जो अधिक आहुति देना हो तो 'विश्वानि देव' आदि मन्त्र से और गायत्री मन्त्र से आहुति देवे।

आजकल जिस अग्निहोत्र का प्रचलन है, वह संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण और गृहाश्रम-प्रकरण का है। संस्कारविधि काल की दृष्टि से उक्त सबमें अन्तिम ग्रन्थ होने के कारण, उसमें युक्तियुक्त विस्तृत विधि-विधान होने के कारण तथा स्वयं स्वामी जी को अभिमत[१] होने के कारण उसी में प्रतिपादित अग्निहोत्र ग्राह्य है। हमने भी प्रस्तुत पुस्तक में संस्कारविधि का ही अनुसरण किया है। समाज में धार्मिक अनुष्ठानों में एकरूपता होना वांछनीय है। अतः संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में प्रोक्त सन्ध्या एवं अग्निहोत्र का प्रचलन ही समुचित प्रतीत होता है। तथापि क्योंकि स्वामी जी ने अपने पूर्वग्रन्थों के सन्ध्याग्निहोत्र-प्रकरणों में संस्कारविधि के अनुसार संशोधन नहीं किया अथवा संस्कारविधि के ही उक्त प्रकरणों में कहीं टिप्पणी आदि में संशोधन कर लेने की बात नहीं लिखी, इसलिए यदि कोई व्यक्तिगत रूप से पूर्व-ग्रन्थों के अनुसार सन्ध्या एवं अग्निहोत्र करते हैं, तो वे दोषी नहीं कहे जा सकते। कोई संक्षेपप्रिय अथवा परिस्थितिवश जिन्हें संक्षेप करना पड़ रहा हो, वे व्यक्ति पञ्चमहायज्ञविधि का अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु इसे प्रचलन नहीं बनाया जाना चाहिए।

---

१. "सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें"—सं०वि०, गृहाश्रम प्रकरण, सन्ध्यारम्भ से पूर्व।
आचार्य ब्रह्मचारी को"'गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर""। सं०वि०, वेदारम्भ प्रकरण, 'आचार्य उपनयमानो' आदि का भावार्थ।

## द्वितीय अध्याय

# वैदिक यज्ञ-चिकित्सा

भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में से यज्ञ एक है। यह कहना अधिक ठीक है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। आर्य मानव जब माता के गर्भ में होता है, तभी यज्ञ द्वारा संस्कृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के वातावरण में ही वह जन्म लेता है, यज्ञ द्वारा ही पालित-पोषित होता है, यज्ञ में ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करता है, अन्त में यज्ञ द्वारा ही अपनी इहलोकलीला को समाप्त करता है। जीवन में उसे दैनिक अग्निहोत्र, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार तथा अन्य कई श्रौत यज्ञ तो करने होते ही हैं, पर शास्त्रकारों ने यहाँ तक कहा है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञरूप समझे। उपनिषद् में लिखा है—

**पुरुषो वाव यज्ञः।**[१]

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। उसकी आयु के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं वे मानो प्रातः सवन हैं, अगले चौबीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, अगले अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इस प्रकार यह ११६ वर्ष चलनेवाला यज्ञ है। मनुष्य को चाहिए कि इसे मध्य में ही आधि-व्याधियों से खण्डित न होने दे।

भारतीय विचार-धारा के रोम-रोम में ओत-प्रोत यह यज्ञ दो दृष्टियों से अपनी महत्ता रखता है। एक तो भावना की दृष्टि

---

१. छा०उ० ३.१६

से, दूसरे बाह्य लाभों की दृष्टि से। भावना की दृष्टि से यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग, समर्पण, परोपकार, ऊर्ध्वगामिता, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, तेजस्विता, देवपूजा, शान्ति, संगठन आदि भावनाओं को उद्बुद्ध करता है। बाह्य लाभों की दृष्टि से यह वायुमण्डल को शुद्ध करता है और रोगों तथा महामारियों को दूर करता है। हमारे प्राचीन ऋषि–मुनियों ने यज्ञ का ऐसा वैज्ञानिक सूक्ष्म अध्ययन किया था कि वे प्राकृतिक रूप से वर्षा न होने पर वृष्टि–यज्ञ द्वारा वर्षा करा लिया करते थे। वे खेतों में खड़ी हुई फसल में कीड़े लग जाने पर उनके विनाश के लिए भी यज्ञ का प्रयोग करते थे और यज्ञ के धूम द्वारा पौधों को खाद भी देते थे। किसी स्त्री के सन्तान न होने पर पुत्रेष्टि द्वारा वे उसे सन्तान प्राप्त करा सकते थे। ये सब यज्ञ के बाह्य लाभ कहे जा सकते हैं। वेदों में यज्ञ द्वारा चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है, यह हम इस प्रकरण में दर्शा रहे हैं।

## रोगोत्पादक कृमियों का विनाश

अथर्ववेद १।२।३१, ३२; ४।३७ तथा ५।२३, २९ में अनेक प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन आता है। वहाँ इन्हें यातुधान, क्रव्याद्, पिशाच, रक्षः आदि नामों से स्मरण किया गया है। ये श्वासवायु, भोजन, जल आदि द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर या मनुष्य को काटकर उसके शरीर में रोग उत्पन्न करके उसे यातना पहुँचाते हैं, अतः ये 'यातुधान' हैं। शरीर के मांस को खा जाने के कारण ये 'क्रव्याद्' या 'पिशाच' कहलाते हैं। इनसे मनुष्य को अपनी रक्षा करना आवश्यक हो जाता है, इसलिए ये 'रक्षः' या 'राक्षस' हैं। यज्ञ द्वारा अग्नि में कृमि–विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन रोगकृमियों को विनष्ट कर रोगों से बचाया जा सकता है। अथर्ववेद (१.८.१) में कहा है—

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥

**यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।**
**तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥**[1]

(इदं हविः) यह हवि (नदी फेनम् इव) जैसे नदी झाग को बहा ले जाती है, वैसे ही (यातुधानान्) यातनादायक रोगकृमियों को (आवहत्) दूर बहा ले जाए। (यः स्त्री पुमान्) जो कोई स्त्री या पुरुष (इदम् अकः) इस हवि को करे (स जनः) वह जन (इह) इस यज्ञ में (स्तुवताम्) मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि का स्तवन=गुणवर्णन भी करे॥

(जातवेदः अग्ने) हे प्रकाशक यज्ञाग्नि, (यत्र) जहाँ (गुहा सतां) गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए (अत्त्रिणाम् एषां) भक्षक इन रोगकृमियों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता है। (ब्रह्मणा वावृधानः) वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उन रोगकृमियों को, वहाँ से (जहि) नष्ट कर दे। इस प्रकार (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (एषाम्) इन रोगकृमियों से होनेवाली (शततर्हं) सैकड़ों प्रकार की हिंसाओं या हानियों को (जहि) निवृत्त कर दे॥

'अग्नि में डाली हुई हवि रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को। जो कोई स्त्री या पुरुष इस यज्ञ को करे, उसे चाहिए कि वह हवि डालने के साथ मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि का स्तवन भी करे। प्रकाशक यज्ञाग्नि गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए भक्षक रोगकृमियों को मानो जानता है। वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ वह उन रोगकृमियों को नष्ट कर सकता है और इनसे होनेवाली सैकड़ों हानियों को दूर कर सकता है।'

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मकान के अन्धकारपूर्ण कोनों में, सन्दूक-पीपे आदि सामान के पीछे, दीवार की दरारों में तथा गुप्त से गुप्त स्थानों में जो रोगकृमि छिपे बैठे रहते हैं, वे कृमिहर ओषधियों के यज्ञिय धूम से विनष्ट हो जाते हैं।

---

१. अथर्व० १.८.४

अथर्ववेद (५।२९) से इस विषय पर और भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—

**अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य जिह्वां नितृन्धि प्र दतो मृणीहि।**
**पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि॥**[1]

(यविष्ठ अग्ने) हे प्रवृद्धतम यज्ञाग्नि, (यतमः पिशाचः) जिस मांसभक्षक कृमि ने (अस्य) इस मनुष्य को (जघास) अपना ग्रास बनाया है, (तम्) उसे (प्रतिशृणीहि) विनष्ट कर दे। उसकी (अक्ष्यौ निविध्य) आँखें फोड़ दे, (हृदयं निविध्य) हृदय को बींध दे, (जिह्वां नितृन्धि) जीभ को काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दाँतों को तोड़ दे।

जो मांसभक्षक रोगकृमि मनुष्य को अपना ग्रास बनाते हैं, उन्हें यज्ञाग्नि विनष्ट कर सकता है।

**आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।**
**तदात्मना प्रजया पिशाचा वियातयन्तामगदोऽयमस्तु॥**
**क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भ अकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः० ॥**
**अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्० ॥**
**दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।**
**तदात्मना प्रजया पिशाचा, वियातयन्तामगदोऽयमस्तु॥**[2]

(आमे) कच्चे, (सुपक्वे) पूर्णतः पके, (शबले) अधपके, या (विपक्वे) तले हुए (अशने) भोजन में प्रविष्ट होकर (यः पिशाचः) जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाई है, (क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठे में,

१. अथर्व० ५.२९.४
२. अथर्व० ५.२९.६-९

(अकृष्टपच्ये अशने) बिना खेती के पकनेवाले जंगली अन्न में, (धान्ये) कृषिजन्य धान्य में प्रविष्ट होकर (यतमः) जिस रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाई है; (अपां पाने) पानी पीते समय और (शयने शयानं) बिस्तर पर सोते हुए, (दिवा) दिन में (नक्तं) रात्रि में (यातूनां यतमः क्रव्याद्) यातनादायक रोगकृमियों में से जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाई है, (तत्) वह (आत्मना) स्वयं, तथा (पिशाचाः) अन्य मांसभक्षक कृमि (प्रजया) सन्तति-सहित, यज्ञाग्नि द्वारा (वि यातयन्ताम्) विनष्ट कर दिये जाएँ, जिससे (अयम्) यह मेरा देह (अगदः अस्तु) नीरोग हो जाए।

'कच्चे, पक्के, अधपके या तले हुए भोजन में प्रविष्ट होकर जो मांसभक्षक रोगकृमि हानि पहुँचाते हैं, यज्ञाग्नि द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो सकते हैं। दूध में, मठे में, बिना खेती के पैदा हुए जंगली धान्य में, कृषिजन्य धान्य में, पानी में, बिस्तर पर सोते हुए, दिन में या रात में जो रोगकृमि हानि पहुँचाते हैं, वे सब यज्ञाग्नि द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो सकते हैं।'

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार बाहर गुप्त स्थानों में छिपे हुए रोगकृमि यज्ञ द्वारा विनष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार दूध, पानी, अन्न, वायु आदि के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुँचे हुए रोगकृमि भी नष्ट हो सकते हैं और शरीर स्वस्थ हो सकता है।

## ज्वर-चिकित्सा

यज्ञाग्नि द्वारा ज्वर तथा ज्वर के सहकारी कास, शिरः पीड़ा, अंगों का टूटना आदि भी दूर हो सकते हैं यह अथर्व० १।१२ तथा ५।२२ सूक्तों से ज्ञात होता है—

**अङ्गे॑ अङ्गे॑ शो॒चिषा॑ शिश्रिया॒णम् न॑म॒स्यन्त॑स्त्वा ह॒विषा॑ विधेम।**

**अङ्गान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥**[1]

हे ज्वर, (अङ्गे अङ्गे) अंग-अंग में (शोचिषा) ताप के साथ (शिश्रियाणम्) व्याप्त हुए-हुए (त्वा) तेरा (हविषा नमस्यन्तः) हवि द्वारा अग्निहोत्र करते हुए (विधेम) हम प्रतिकार करें। (ग्रभीता यः) अंगों को जकड़नेवाले जिस ज्वर ने (अस्य) इस मनुष्य के (पर्व) अंगों को (अग्रभीत्) जकड़ लिया है, उसके लिए (हविषा) हवि द्वारा (समङ्कान्) पकड़नेवाले (अङ्कान्) पाशों को (विधेम) तैयार करें।

'अंग-अंग में ताप के साथ व्याप्त हुए ज्वर का प्रतिकार हम हवि के द्वारा करते हैं। जो ज्वर रोगी के अंगों को जकड़ लेता है, उसे हवि के द्वारा हम नष्ट कर सकते हैं।'

**मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।**
**यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥**[2]

हे सूर्य, अग्निहोत्र की हवि के साथ तू (एनं) इस रोगी को (शीर्षक्त्या) शिरःपीड़ा से (मुञ्च) मुक्त कर दे। (उत) और (यः कासः) जो खाँसी तथा (यः) जो (अभ्रजाः) श्लेष्मजन्य, (वातजाः) वातजन्य और (शुष्मः) शोषकपित्तजन्य ज्वर (अस्य) इस रोगी के (परुः परुः) अंग-अंग में (आविवेश) व्याप्त हो गया है, वह (वनस्पतीन्) वृक्षों से (पर्वतान् च) और पर्वतों से (सचताम्) टकराए, अर्थात् पूर्णतः विनष्ट हो जाए।

'सूर्य और अग्निहोत्र की हवि दोनों मिलकर रोगी को शिरः-पीड़ा से मुक्त कर सकते हैं। खाँसी और श्लेष्मजन्य, वातजन्य या पित्तजन्य ज्वर जो अंग-अंग में व्याप्त हो गया है,

---

१. अथर्व० १.१२.२
२. अथर्व० १.१२.३

वह भी नष्ट हो सकता है।'

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥
अयं जो विश्वान् हरितान् कृणोषि
उच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि॥[1]

(अग्निः) यज्ञाग्नि (इतः) यहाँ से (तक्मानम्) ज्वर को (अपबाधताम्) दूर भगा दे। (सोमः) सोमरस, (ग्रावा) यज्ञिय सिल-बट्टे, (पूतदक्षाः वरुणः) पवित्र बल को देनेवाला सूर्य, (वेदिः) यज्ञवेदि, (बर्हिः) कुशा और (शोशुचानाः समिधः) प्रज्वलित समिधाएँ भी [ज्वर को दूर करें]। (अमुया) इस स्थान से या इस रुग्ण शरीर से (द्वेषांसि) ज्वरजन्य उपद्रव (अपभवन्तु) दूर हो जाएँ॥

(तक्मन्) हे ज्वर, (अयं यः) यह जो तू (उच्छोचयन्) शरीर को अत्यधिक तप्त करता हुआ, (अग्निः इव अभिदुन्वन्) आग के समान अभिभूत करके पीड़ा करता हुआ (विश्वान्) सबको (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है, वह तू (अध हि) हमारे उपचार के उपरान्त (अरसः हि भूयाः) निर्वीर्य हो जा, (अध) और (न्यङ्) तिरछे रोम-कूपों से स्वेदादि द्वारा (अधराङ् वा) या मल-मूत्रादि द्वारा नीचे से (परेहि) शरीर से बाहर निकल जा॥

'यज्ञाग्नि ज्वर को दूर भगा सकता है। सोमरस, यज्ञिय सिल-बट्टे, पवित्र बल को देनेवाला सूर्य, वेदि, कुशा, प्रज्वलित समिधाएँ ये समस्त यज्ञांग ज्वर-निवारण में सहायक होते हैं। इस विधि से द्वेषकारी सब ज्वरजन्य उपद्रव दूर हो

---

१. अथर्व० ५.२२.१,२

सकते हैं। जो ज्वर अपने ताप से तप्त करता हुआ, पीड़ित करता हुआ, सबको पीले शरीरवाला कर देता है, वह यज्ञाग्नि द्वारा निर्वीर्य होकर शरीर से बाहर निकल जाता है।'

यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासाऽवेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्ग्धि नः॥
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥[1]

(तक्मन्) हे ज्वर, (तत् त्वं) जो तू (शीतः) शीत-रूप है, (अथो रूरः) या उष्णरूप है, (कासा सह) खाँसी के साथ (अवेपयः) कँपाता है, (ते हेतयः) तेरे ये सब हथियार (भीमाः) बड़े भयानक हैं, (ताभिः) उनके साथ (नः परिवृङ्ग्धि स्म) हमें छोड़ दे॥

हे यज्ञाग्नि, (तृतीयकं) तीसरे दिन चढ़नेवाले, (वितृतीयं) चौथे दिन चढ़नेवाले, (सदन्दिं) अविरत चढ़े रहनेवाले (उत शारदम्) और वर्ष बाद चढ़नेवाले, (ग्रैष्मं) ग्रीष्म में होनेवाले, (वार्षिकम्) वर्षा में होनेवाले (शीतं) शीत या (रूरं) उष्ण (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) नष्ट कर दे॥

'खाँसी से प्रकम्पित करनेवाला, तीसरे दिन चढ़नेवाला, चौथे दिन चढ़नेवाला, प्रतिदिन चढ़ा रहनेवाला, ग्रीष्म में होनेवाला, वर्षा में होनेवाला जो शीत या उष्ण ज्वर है, वह यज्ञाग्नि की हवि से नष्ट हो सकता है।'

### उन्माद-चिकित्सा

अथर्ववेद में यज्ञाग्नि द्वारा उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन मिलता है—

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यथाऽनुन्मदितोऽसति॥[2]

---

१. अथर्व० ५.२२.१०, १३ २. अथर्व० ६.१११.१

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (अयं यः) यह जो उन्मत्त पुरुष (बद्धः) बाँधा हुआ, (सुयतः) सुनियन्त्रित किया हुआ (लालपीति) असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है, (इमं मे पुरुषं) इस मेरे पुरुष को (मुमुग्धि) उन्माद-रोग से मुक्त कर दे। (अतः अधि) स्वस्थ हो जाने के बाद भी वह (ते भागधेयं कृणवत्) तेरे हविर्भाग प्रदान करता रहे, (यथा) जिससे (अनुन्मदितः असति) भविष्य में भी उन्मादरहित रहे।

**अ॒ग्निष्टे॒ नि श॑मयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्यु॑तम्।**
**कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान् भे॑ष॒जं यथानु॑न्मदि॒तोऽस॑सि ॥**[1]

हे मनुष्य, (यदि ते मनः) यदि तेरा मन (उद्युतम्) उन्माद-युक्त हो गया है तो (अग्निः) यज्ञाग्नि (ते) तेरे मन को (निशमयतु) पूर्णतः शान्त कर दे। (विद्वान्) यज्ञ-चिकित्सा को जाननेवाला मैं (ते भेषजं कृणोमि) तेरी चिकित्सा करता हूँ, (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद-रहित (अससि) हो जाए।

इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई मनुष्य उन्मत्त हो जाए, उसकी अवस्था ऐसी बिगड़ जाए कि वह असम्बद्ध बातें बोलता रहे, काटने-मारने को दौड़ता हो, यहाँ तक कि उसे रस्सी से बाँधकर रखने की आवश्यकता पड़े, इस हालत में भी वह यज्ञचिकित्सा से स्वस्थ हो सकता है। यज्ञाग्नि में डाली हुई ओषधियों की सुगन्ध उसके विकृत मस्तिष्क और उत्तेजित मन को ठीक कर सकती है। जो एक बार उन्माद रोग से ग्रस्त हो चुका होता है, उसके लिए आगे भी भय रहता है कि कहीं फिर उन्मत्त न हो जाए। पर यहाँ वेद ने यह उपाय बताया है कि ठीक होने के पश्चात् यदि वह इस रोग के लिए हितकर ओषधियों से नियमपूर्वक यज्ञ करता रहे तो भविष्य में फिर कभी इस रोग से ग्रस्त नहीं होगा।

---

१. अथर्व० ६.१११.२

## गण्डमाला-चिकित्सा

अथर्ववेद (६।८३) में गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन है। वहाँ सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सेवन तथा यज्ञाग्नि की आहुति द्वारा यह रोग दूर हो सकता है, ऐसा कहा गया है—

**अपंचितः प्र पंतत सुपर्णो वंसतेरिव।**
**सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोंच्छतु॥**
**एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिंणी द्वे।**
**सर्वासामग्रभं नाम-अवीरघ्नीरपेंतन॥**
**असूतिंका रामायण्यपचित् प्र पंतिष्यति।**
**ग्लौरितः प्र पंतिष्यति स गंलुन्तो नंशिष्यति॥**
**वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनंसा स्वाहा।**
**मनंसा यदिदं जुहोमिं॥**[1]

(अपचितः) हे गण्डमाला की ग्रन्थियो, तुम (प्र पतत) इस शरीर से उड़ जाओ, (सुपर्णः वसतेः इव) जैसे बाज पक्षी घोंसले से उड़ जाता है। (सूर्यः भेषजं कृणोतु) सूर्य तुम्हारी चिकित्सा करे, (चन्द्रमाः वः अपोच्छतु) चन्द्रमा तुम्हें दूर भगा दे॥ (एका) तुममें से एक (एनी) कुछ-कुछ लाल-श्वेत वर्ण वाली है, (एका श्येनी) एक श्वेत है, (एका कृष्णा) एक काली है, (द्वे रोहिणी) दो लाल हैं। (सर्वासां) सबका (नाम अग्रभम्) मैं नाम लेता हूँ। (अवीरघ्नीः) इस वीर पुरुष का संहार न करती हुई (अपेतन) इस शरीर से निकल जाओ॥ (असूतिका) जिससे पस निकलना आरंभ नहीं हुआ है ऐसी, (रामायणी) नाड़ी-व्रण वाली (अपचित्) गण्डमाला (प्र पतिष्यति) निश्चय ही गिर जाएगी। (ग्लौः) पीड़ा-कराहट (इतः प्रपतिष्यति) यहाँ से समाप्त हो जाएगी। (स गलुन्तः) वह पस बहानेवाला व्रण (नशिष्यति) नष्ट हो

---

१. अथर्व० ६.८३.१-४

जाएगा॥ हे रोगी! तू (मनसा जुषाणः) मनोयोग के साथ (स्वाम् आहुतिं) अपनी आहुति का (वीहि) सेवन कर (यद् इदं) जिसे मैं (स्वाहा) स्वाहापूर्वक (जुहोमि) यज्ञाग्नि में डाल रहा हूँ।

'गण्डमाला की ग्रन्थियाँ सूर्यचिकित्सा, चन्द्रचिकित्सा और अग्निहोत्र-चिकित्सा द्वारा रोगी के शरीर से निकलकर ऐसे ही उड़ जाती हैं, जैसे बाज पक्षी अपने घोंसले से उड़ता है। कुछ-कुछ लाल-श्वेत वर्णवाली, सफेद, काली, लाल सब ग्रन्थियाँ पुरुष का संहार न करती हुई शरीर से दूर हो सकती हैं। हे रोगी, तू विश्वास रख, जिससे अभी पीप बहना आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसी तेरी यह गण्डमालाग्रन्थि निश्चय ही गिर जाएगी। तेरी पीड़ा दूर हो जाएगी, व्रण नष्ट हो जाएगा। हे रोगी, तू मनोयोग के साथ इस आहुति का सेवन कर, जिसे मैं मनोयोग-पूर्वक यज्ञाग्नि में डाल रहा हूँ।'

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गण्डमाला का रोगी यदि गण्डमालाग्रन्थियों पर विशिष्ट ओषधियों का यज्ञधूम लेवे तो वे ग्रन्थियाँ नष्ट हो सकती हैं। साथ में सूर्यकिरणों और चन्द्रकिरणों का सेवन भी सहायक चिकित्सा के रूप में करना चाहिए।

अथर्ववेद (७।७४) में भी गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन करते हुए अन्तिम मन्त्र में यज्ञाग्नि को स्मरण किया है—

**व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।**
**तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उपसदेम सर्वे॥**[1]

(व्रतपते) हे व्रतों के पालक (जातवेदः) यज्ञाग्नि, (व्रतेन समक्तः त्वं) रोगनिवारण-व्रत से संयुक्त तू (सुमनाः) हमारे मनों को प्रसन्न करनेवाला होता हुआ (इह) इस घर में (विश्वाहा दीदिहि) प्रतिदिन प्रज्वलित होता रह। (समिद्धं तं

१. अथर्व० ७.७४.४

त्वा) समिधाओं से प्रज्वलित तेरे समीप (प्रजावन्तः) सन्तानों सहित हम (उप सदेम) बैठा करें [जिससे द्वितीय मन्त्र में वर्णित प्रथम, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार की गण्डमाला-ग्रन्थियाँ तथा अन्य रोग दूर हो जाएँ।]

## क्षयरोग या राजयक्ष्मा की चिकित्सा

अन्य रोगों की तो गणना ही क्या, यज्ञ द्वारा राजयक्ष्मा की भी चिकित्सा हो सकती है, यह वैदिक सन्दर्भों से प्रकट होता है। सर्वप्रथम हम अथर्ववेद (७।७६) का प्रसंग लेते हैं—

**यः कीकंसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठंति।**
**निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥**
**पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पूरुषम्।**
**तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च॥**
**विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।**
**कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥**[1]

(यः) जो राजयक्ष्मा रोग (कीकसाः) पसलियों को (प्रशृणाति) तोड़ डालता है, (तलीद्यम् अवतिष्ठति) फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, (यः कश्च) और जो कोई (ककुदि श्रितः) पृष्ठवंश के उपरिभाग में स्थित हो जाता है, (तं जायान्यं सर्वं) उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होनेवाले सब राजयक्ष्मा रोग को, हे यज्ञिय हवि, तू (निर्हाः) शरीर से बाहर निकाल दे॥ (पक्षी) पक्षी की भाँति उड़नेवाला (जायान्यः) राजयक्ष्मा रोग (पतति) फैलता है, (सः) वह (पूरुषम्) एक से दूसरे पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट हो जाता है। (तत्) वह यज्ञिय हवि (अक्षितस्य) जिसने जड़ नहीं जमाई है (सुक्षितस्य च) और जिसने खूब जड़ जमा ली है (उभयोः) उन दोनों प्रकार के राजयक्ष्मा की (भेषजम्) औषध है॥ (जायान्य) हे राजयक्ष्मा रोग, (ते जानं) तेरे उत्पादक कारणों

---

१. अथर्व० ७.७६.३-५,

को हम (वै) निश्चय ही (विद्म) जानते हैं, (यतः) जिनसे (जायान्य) हे राजयक्ष्मा, (जायसे) तू पैदा होता है। (यस्य गृहे) जिसके घर में, हम (हविः कृण्मः) हवन करतें हैं, (तत्र) उस घर में (त्वं कथं ह हनः) तू किसी को कैसे मार सकता है?

'जो क्षयरोग पसलियों को तोड़ डालता है, फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, पृष्ठवंश के उपरिभाग में स्थित हो जाता है, उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग को यज्ञिय हवि शरीर से बाहर निकाल सकती है। पक्षी की भाँति उड़नेवाला अर्थात् छूत द्वारा फैलनेवाला यह रोग एक से दूसरे पुरुषों में प्रविष्ट हो जाता है। चाहे उसने जड़ जमा ली हो, चाहे जड़ न जमाई हो, हविचिकित्सा दोनों की ही उत्तम चिकित्सा है। क्षय रोग के उत्पादक कारणों को जानकर नित्य हवन करने से क्षय रोग को नष्ट किया जा सकता है।'

इन मन्त्रों से क्षयरोग के निवारण में यज्ञहवन की महत्ता स्पष्ट है। इस विषय पर अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के कुछ अन्य मन्त्र और भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। यज्ञ-चिकित्सा करने वाला वैद्य कहता है—

**मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनायकमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।**
**ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥**[1]

हे रोगी, (हविषा) यज्ञिय हवि द्वारा (कम्) सुखपूर्वक (जीवनाय) जीने के लिए, (त्वा) मैं तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) अज्ञात रोग से (उत राजयक्ष्मात्) और राजयक्ष्मा तक से (मुञ्चामि) छुड़ा दूँगा। (यदि वा) अथवा यदि (एनं) इसे (एतद् ग्राहिः जग्राह) इस वातव्याधि ने पकड़ लिया है, तो भी (इन्द्राग्नी) हे वायु और यज्ञाग्नि, तुम दोनों (एनं) इसे (तस्याः) उससे (प्रमुमुक्तम्) छुड़ा दो।

---

१. अथर्व० ३.११.१

चाहे कोई अज्ञात रोग हो, चाहे राजयक्ष्मा हो, यज्ञिय हवि द्वारा उस रोग से छुटकारा पाया जा सकता है। ऐसी वातव्याधियाँ वायु और अग्नि द्वारा चिकित्सा से दूर हो सकती हैं।

**यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।**
**तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥**[1]

(यदि क्षितायुः) यदि रोगी क्षीण आयु वाला हो चुका है, (यदि वा परेतः) यदि यह निराश हो चुका है, (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्यु के बिल्कुल समीप ले जाया जा चुका है, तो भी (तम्) उसे (निर्ऋतेः उपस्थात्) मृत्यु की गोद से, हवि-चिकित्सा द्वारा (आ हरामि) लौटा लाता हूँ। (एनं) इसे, मैंने (शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिए (अस्पार्षम्) बल प्रदान कर दिया है।

'किसी की आयु क्षीण हो चुकी है, वह जीवन से निराश हो चुका है, मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुँच चुका है, तो भी हवि-चिकित्सा उसे मृत्यु की गोद से लौटा ला सकती है।'

**सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा**
**हविषाऽऽहार्षमेनम्।**
**शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य**
**पारम्॥**[2]

(सहस्राक्षेण) इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देनेवाली, (शतशारदेन) सौ शरद् ऋतुएँ निर्विघ्न पार करानेवाली, (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देनेवाली (हविषा) हवि के द्वारा (एनम्) इस राजयक्ष्मा से ग्रस्त पुरुष को (आहार्षम्) छुड़ा लाया हूँ, (यथा) जिससे (इमं) इसे (इन्द्रः) हविर्गन्ध-युक्त वायु (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (विश्वस्य दुरितस्य) सब रोग-कष्ट से (पारं नयाति) पार पहुँचाता रहे।

---

१. अथर्व० ३.११.२
२. अथर्व० ३.११.३

'यज्ञिय हवि इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देनेवाली है, सौ शरद् ऋतुएँ निर्विघ्न पार करानेवाली है, सौ वर्ष की आयु देनेवाली है। हवि के द्वारा क्षयरोग से ग्रस्त पुरुष को रोग के चंगुल से छुड़ाकर सौ वर्षों तक जिलाया जा सकता है।'

**शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।**
**शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥[1]**

हे पुरुष, तू हवि-चिकित्सा से (वर्धमानः) पुष्टि प्राप्त करता हुआ (शतं शरदः) सौ शरदों तक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्तों तक, (उ शतं वसन्तान्) और सौ वसन्तों तक (जीव) जीवित रह। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि ने, (सविता) सूर्य ने, (बृहस्पतिः) बहुत शब्द करनेवाले बादल ने (शतायुषा हविषा) सौ वर्ष की आयु देनेवाली हवि की सहायता से (इमं) इसे (पुनः) फिर (शतं) सौ वर्ष की आयु (दुः) प्रदान कर दी है।

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि क्षयरोग चाहे प्रारम्भिक अवस्था में हो, चाहे बहुत बढ़ गया हो, यहाँ तक कि उसके कारण रोगी बिल्कुल मरणासन्न हो गया हो, तो भी हवि-चिकित्सा के द्वारा ठीक हो सकता है और रोगी स्वस्थ होकर सौ वर्ष तक जीने योग्य हो सकता है। परन्तु हवि-चिकित्सा के साथ-साथ शुद्ध वायु-सेवन, सूर्यकिरणस्नान, शुद्ध जल का प्रयोग आदि हों तभी हवि-चिकित्सा लाभदायक होती है, यह भी प्रकट है।

## गर्भदोष-निवारण

ऋग्वेद में अगले ही सूक्त (१०।१६२) में यज्ञाग्नि द्वारा गर्भदोषों के निवारण का उल्लेख किया गया है। यह प्रकरण

---

१. अथर्व० ३.११.४

अथर्ववेद (२०।९६) में भी है—

**ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।**
**अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥**[1]

हे नारी, (यः) जो (दुर्णामा) बुरे नाम वाला (अमीवा) रोग या रोगकृमि (ते गर्भं) तेरे गर्भ में (योनिं) या योनि में (आशये) प्रविष्ट हो गया है, तो उसे (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (संविदानः) युक्त (रक्षोहा अग्निः) कृमिविनाशक यज्ञाग्नि (इतः) यहाँ से (बाधताम्) दूर कर देवे।

**यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये॥**
**अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥**[2]

हे नारी, (यः) जो (दुर्णामा अमीवा) बुरे नाम वाला रोगकृमि (ते गर्भयोनिम् आशये) तेरे गर्भ या योनि में प्रविष्ट हो गया है (तं क्रव्यादम्) उस मांसभक्षक को (ब्रह्मणा सह) वेदमन्त्र के साथ (अग्निः) यज्ञाग्नि (अनीनशत्) नष्ट कर देवे।

**यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।**
**जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥**[3]

हे नारी, (यः) जो रोग या रोगकृमि (ते) तेरे (पतयन्तम्) गर्भाशय में जाते हुए वीर्य की उत्पादक शक्ति को (हन्ति) नष्ट कर देता है, (यः) जो (निषत्स्नुं) स्थित हुए गर्भ को अथवा (सरीसृपम्) गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ को (हन्ति) विनष्ट करता है और (ते) तेरे (जातं) पैदा हुए शिशु की (जिघांसति) हत्या करना चाहता है, (तम्) उसे (इतः) यहाँ से यज्ञाग्नि द्वारा (नाशयामसि) हम विनष्ट कर देते हैं।

'जो रोग या रोगकृमि गर्भाशय में जाते हुए वीर्य की

१. अथर्व० २०.९६.११
२. अथर्व० २०.९६.१२
३. अथर्व० २०.९६.१३

उत्पादक शक्ति को नष्ट करता है, जो अन्दर स्थित हुए गर्भ की हत्या करता है, जो गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ की हत्या करता है, जो पैदा हुए शिशु की हत्या करता है, वह यज्ञाग्नि द्वारा विनष्ट किया जा सकता है।'

इन मंत्रों से यह द्योतित होता है कि यज्ञ-हवन द्वारा अनेक प्रकार के गर्भदोष दूर हो सकते हैं। जिन स्त्रियों में गर्भ ठहरने ही नहीं पाता, या ठहरने के बाद दो-चार महीनों में गिर जाता है, या पूरे नौ-दस महीने की अवधि तक स्थिर रहकर भी प्रसव ठीक नहीं हो पाता, या प्रसव हो भी जाए तो शिशु ऐसा रोगाक्रान्त पैदा होता है कि शीघ्र ही मर जाता है, ऐसी स्त्रियाँ हविचिकित्सा से लाभ प्राप्त कर सकती हैं, ऐसा वेद का आशय है।

प्रसूतिकर्म आसानी से हो जाने के लिए भी किन्हीं विशेष ओषधियों की यज्ञिय सुगन्ध उपयोगी हो सकती है, यह अथर्ववेद के निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

**वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।**
**सिस्रतां नारी-ऋतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥**[1]

(पूषन्) हे पोषक गृहपति, (अस्मिन् सूतौ) इस प्रसव के समय (अर्यमा) रोग-शत्रुओं का नियमन करनेवाला, (वेधाः) यज्ञ का विधाता, (होता) होमनिष्पादक मनुष्य, (ते) तेरे लिए, (वषट् कृणोतु) स्वाहापूर्वक अग्नि में हवि डाले। (नारी) नारी (सिस्रतां) बाहर की ओर किनछे, (उ) और (सूतवे) प्रसूति के लिए (पर्वाणि) अपने अंगों को (वि जिहतां) ढीला छोड़ दे जिससे (ऋतप्रजाता) सरलता से प्रसव हो जाए।

इसके लिए अपामार्ग ओषधि की हवि लाभदायक है।[2] बज और पिंग ओषधियाँ भी गर्भदोष-निवारक कही गई हैं।[3]

---

१. अथर्व० १.११.१ २. अथर्व० ४.१७.६
३. अथर्व० ८.६.२४, २५

## अन्य रोगों का निवारण

अब तक हमने ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें यज्ञ द्वारा किन्हीं विशेष रोगों के विनाश होने का वर्णन है। अब कुछ ऐसे मंत्र उद्धृत करेंगे जिनमें किसी विशेष रोग का नाम न लेकर सामान्य रूप से यह कहा गया है कि यज्ञाग्नि से रोग दूर होते हैं।

**यथा॑ वृत्र इमा आ॑पस्तुस्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः।**
**ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॑ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये॥**[१]

(यथा) जैसे (वृत्रः) बाँध (विश्वधा यतीः) चारों ओर जानेवाले (इमाः आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) रोक लेता है, (एव) वैसे ही (वैश्वानरेण अग्निना) सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा (ते यक्ष्मं) तेरे रोग को (वारये) मैं फैलने से रोक देता हूँ।

'जिस प्रकार बाँध चारों ओर जानेवाले जलों को रोक लेता है, उसी प्रकार सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा रोगों को फैलने से रोका जा सकता है।'

**आ ते॑ प्रा॒णं सु॑वामसि॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते।**
**आयु॑र्नो वि॒श्वतो॑ दधद॒यम॒ग्निर्वरे॑ण्यः॥**[२]

हे रोगी, (ते) तेरे अन्दर (प्राणं) प्राण को (आसुवामसि) हम प्रेरित कर देते हैं, (ते) तेरे (यक्ष्म) रोग को (परा सुवामि) दूर कर देता हूँ। (अयं) यह (वरेण्यः अग्निः) वरणीय श्रेष्ठ यज्ञाग्नि (नः) हम सबको (विश्वतः) सर्वत्र (आयुः दधत्) दीर्घायुष्य प्रदान करे।

'यज्ञिय हवि द्वारा रोगी के अन्दर प्राण फूँका जा सकता है, रोगों को दूर किया जा सकता है और रोगी को दीर्घ आयु प्रदान की जा सकती है।'

---

१. अथर्व० ६.८५.३
२. अथर्व० ७.५३.६

**अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।**
**विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्॥**[1]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू (अनाधृष्यः) अपराजेय, (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक, (अमर्त्यः) अमर, (विराट्) विशेष तेजस्वी और (क्षत्रभृत्) रोगत्राणकारी बल को धारण करानेवाला होता हुआ (इह) यहाँ हमारे घरों में (दीदिहि) प्रज्वलित हो। (विश्वाः अमीवाः) सब रोगों को (प्रमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ तू (अद्य) आज (मानुषीभिः) मनुष्यों का कल्याण करनेवाली, (शिवाभिः) सुखदायक रक्षाओं से (नः गयम्) हमारे घर की (परि पाहि) रक्षा कर।

'यज्ञाग्नि अनाधृष्य अर्थात् रोगादि शत्रुओं से अपराजेय है। वह अमर, तेजस्वी और बलदायक होता हुआ हमारे घरों में प्रज्वलित हो तो सकल रोगों से छुड़ा सकता है।'

**कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।**
**देवममीवचातनम्॥**[2]

हे मनुष्य, तू (अध्वरे) यज्ञ में (कविं) मेधावी-तुल्य, (सत्यधर्माणं) सत्य धर्मों वाले, (देवं) देदीप्यमान (अमीवचातनम्) रोगों को नष्ट करनेवाले (अग्निं) यज्ञाग्नि का (उपस्तुहि) मन्त्रों द्वारा गुण-वर्णन कर।

**घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।**
**श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः॥**[3]

(समना) मनोयोग-सहित और (सदेवा) इन्द्रिय-देवों

---

१. अथर्व० ७.८४.१
२. ऋग्० १.१२.७
३. अथर्व० १९.५८.१

के व्यापार-सहित [अग्नि में समर्पित] (घृतस्य जूतिः) घृत की धारा (हविषा) ओषधियों की हवि के साथ (संवत्सरं) वर्षभर (वर्धयन्ती) हमें बढ़ाती रहे। (नः) हमारे (श्रोत्रं) कान (चक्षुः) नेत्र और (प्राणः) प्राण (अच्छिन्नः अस्तु) रोगादि से अच्छिन्न रहें। (वयं) हम (आयुषः) आयु से और (वर्चसः) तेज से (अच्छिन्नाः) छिन्न न होवें।

'मनोबल के साथ अग्नि में डाली हुई घृत की धारा अन्य ओषधियों की हवि के साथ मिलकर श्रोत्र, चक्षु, प्राण आदि को नीरोग करके दीर्घायुष्य प्रदान करती है।'

**स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे।**
**सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति॥**[1]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो मनुष्य (घ) निश्चय ही (जातवेदसे ते) तुझ प्रकाशक के लिए (समिधा) रोगनिवारक ओषधियों की समिधाओं से (ददाशति) अग्निहोत्र करता है, (सः) वह (सुवीर्यं धत्ते) श्रेष्ठबल को धारण करता है, और (सः) वह (पुष्यति) परिपुष्ट होता है।

अग्निहोत्र करने से शरीर में बल और पुष्टि प्राप्त होते हैं।

इन तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि विभिन्न ओषधि-वनस्पतियों के समित्-पत्र-पुष्प-फल-मूल-निर्यास आदि की हवि से मनुष्य बल, पोषण एवं रोग-निरोधक शक्ति प्राप्त कर सकता है और आगत तथा अनागत विविध रोगों से बचकर दीर्घायुष्य पा सकता है।

## यज्ञ द्वारा रोगनिवारण की प्रक्रिया

अब हम यह देखेंगे कि यज्ञ द्वारा रोगनिवारण कैसे होता है। जब हम यज्ञाग्नि में घृत, अन्न, ओषधियों आदि की आहुति देते हैं, तब उनकी रोगनिवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है। उस वायु को श्वास द्वारा हम अपने फेफड़ों में

---

१. अथर्व० ३.१०.३

भरते हैं। वहाँ उस वायु का रक्त से सीधा सम्पर्क होता है। वह वायु अपने में विद्यमान रोगनिवारक परमाणुओं को रक्त में पहुँचा देती है। उससे रक्त में जो रोगकृमि होते हैं वे मर जाते हैं। रक्त के अनेक दोष वायु में आ जाते हैं और जब हम वायु को बाहर निकालते हैं, तब उसके साथ वे दोष भी हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा संस्कृत वायु में बार-बार श्वास लेने से शनैः-शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है। इसी क्रिया को वेद में निम्न शब्दों में दर्शाया है—

**द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।**
**दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः॥**
**आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।**
**त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥**[1]

(द्वौ इमौ वातौ वातः) श्वास-निश्वास रूपी दो वायु चलती हैं, (आ सिन्धोः) एक बाहर से फेंफड़ों के रक्त-समुद्र तक (आ परावतः) और दूसरी अन्दर से बाहर की ओर। (अन्यः) इनमें से पहली, हे रोगी, (ते) तेरे लिए (दक्षं) बल को (आ धातु) प्राप्त कराए, (अन्यः) दूसरी (यद् रपः) रक्त में जो दोष है उसे (परा वातु) बाहर ले जाए॥

(वात) हे वायु, तू (भेषजं) औषध को (आ वाहि) अपने साथ ला, (वात) हे वायु, तू (यद् रपः) रक्त में जो मल है उसे (वि-वाहि) बाहर निकाल दे। (त्वं हि) तू निश्चय ही (विश्वभेषजः) सब रोगों की दवा है, तू (देवानां) स्वास्थ्यवर्द्धक दिव्य पदार्थों का (दूतः) दूत होकर (ईयसे) विचरता है॥

**वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।**
**प्रण आयूंषि तारिषत्॥**
**उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।**
**स नो जीवातवे कृधि॥**

---

१. ऋग्० १०.१३७.२, ३; अथर्व० ४.१३.२, ३

**यद्दो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।**
**ततो नो देहि जीवसे॥**[1]

(वातः) वायु (भेषजं) औषध को (आ वातु) हमारे अन्दर ले जाए, जो (नः हृदे) हमारे हृदय के लिए (शंभु) रोग-शामक, और (मयोभु) सुखकारक हो। (नः) हमारी (आयूंषि) आयु के वर्षों को (प्रतारिषत्) बढ़ाए॥ (वात) हे वायु, (उत नः पिता असि) तू हमारा पिता है, (उत भ्राता) और भाई है, (उत नः सखा) और हमारा मित्र है। (सः) वह तू (नः) हमें (जीवातवे कृधि) सुखी जीवन प्रदान कर॥ (वात) हे वायु, (यत्) जो (ते गृहे) तेरे घर में अर्थात् तेरे अन्दर (अमृतस्य निधिः) अमृत का भण्डार (हितः) निहित है, (ततः) उसमें से कुछ अंश (जीवसे) सुखी जीवन के लिए (नः देहि) हमें भी प्रदान कर॥

### आयुर्वेदिक ग्रन्थों का प्रमाण

यज्ञों द्वारा रोग-निवारण का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी मिलता है। महर्षि चरक क्षयरोग की चिकित्सा के प्रकरण में कहते हैं—

**यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।**
**तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥**[2]

अर्थात् प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा को जीता जाता था, आरोग्य चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करे।

आयुर्वेद के विभिन्न ग्रंथों में ऐसे अनेक प्रयोग लिखे हैं, जिनमें अग्नि में ओषधियाँ डालकर उनकी धूनी लेने से रोगों को दूर करने का वर्णन है। उन्हें भी यज्ञ-चिकित्सा का ही रूप समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम कुछ प्रयोग यहाँ देते हैं—

---

१. ऋग्० १०.१८६.१-३
२. चरक, चिकित्सास्थान ८.१२२

**अगरुघनसारसल्लककरुहनतनीरचन्दनैर्युक्तः।**
**सर्जरसेन समेतो धूपो रुग्दाहकं हन्ति॥[1]**

अगर, कपूर, लोबान, नखी तगर, सुगन्धबाला, चन्दन और राल—इनकी धूप देने से दाह शान्त होता है।

**अश्वगन्धोऽथ निर्गुण्डी, बृहती पिप्पलीफलम्।**
**धूपोऽयं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम्॥[2]**

असगन्ध, निर्गुण्डी, बड़ी कटेली, पीपल—इनकी धूप से बवासीर की पीड़ा शान्त होती है।

**शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुपिष्टस्ताम्रसम्पुटे।**
**घृतेन धूपितो हन्ति शोथघर्षाश्रुवेदनः॥[3]**

सहँजने के पत्तों के रस को ताम्रपात्र में डालकर तांबे की मूसली से घोटें और उसे घी में मिला लें। इनकी धूप देने से आँखों की पीड़ा, अश्रुस्राव, किरकिराहट व शोथ का नाश होता है।

**काकुभकुसुमविडङ्गं लाङ्गलिभल्लातकं तथोशीरम्।**
**श्रीवेष्टकसर्जरसं चन्दनमथ कुष्ठमष्टमं दद्यात्॥**
**एष सुगन्धो धूपः सकृत् कृमीणां विनाशकः प्रोक्तः।**
**शय्यासु मत्कुणानां शिरसि च गात्रेषु यूकानाम्॥[4]**

अर्जुन के फूल, वायविडंग, कलियारी की जड़, भिलावा, खस, धूप सरल, राल, चन्दन और कूठ समान भाग लेकर बारीक कूट लें। इसकी धूप से कृमि नष्ट हो जाते हैं। यदि खाट को इसकी धूप दी जाए तो खटमलों का और शिर तथा अंगों को दी जाए तो जूँओं का विनाश होता है।

**काकमाचीफलैकेन घृतयुक्तेन बुद्धिमान्।**
**धूपयेत् पिल्लरोगार्तं पतन्ति कृमयोऽचिरात्॥[5]**

---

१. बृ०नि०र० कृमिचिकित्सत
२. बृ०नि०र०
३. वंगसेन
४. यो०र० १०,११
५. गदनिग्रह

मकोय के एक फल को घृत लगाकर उसे आग पर डालकर आँख में उसकी धूनी देने से तुरंत आँख से कृमि निकलकर पिल्ल रोग नष्ट हो जाता है।

**निम्बपत्रं वचा कुष्ठं पथ्या सिद्धार्थकं घृतम्।**
**विषमज्वरनाशाय गुग्गुलुश्चेति धूपनम्॥**[१]

नीम के पत्ते, बच, कूठ, हर्र, सफेद सरसों और गूगल के चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से विषमज्वर नष्ट होता है।

**निम्बपत्रवचाहिङ्गुसर्पिर्लवणसर्षपैः।**
**धूपनं कृमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम्॥**[२]

नीम के पत्ते, बच, हींग, सैंधा नमक और सरसों के समभाग-मिश्रित चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से व्रण के कृमि, खाज और पीव नष्ट होते हैं।

इस प्रकार के अनेक प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थों में हैं। प्राचीन आयुर्वेदविज्ञ आचार्यों ने ये परीक्षण किये थे। अनुसंधान और परीक्षण से हम अन्य भी अनेक प्रयोगों का आविष्कार कर सकते हैं। परन्तु अग्नि में ओषधियों के मिश्रण को डालने मात्र से जितना फल सम्भव है, उससे शतगुणित फल यज्ञ द्वारा उस विधान को करने से प्राप्त हो सकता है। रोगी श्रद्धा के साथ मन में पवित्र विचारों को लेकर यज्ञ में बैठता है। वह मन में इस विश्वास को धारण किये होता है कि इस यज्ञिय हवि से मेरा रोग अवश्य दूर होगा। चिकित्सक की भावना और उत्साह रोगी के हृदय में और भी आशा का संचार कर देते हैं। मन्त्रपाठपूर्वक यज्ञ प्रारम्भ होता है। एक-एक मन्त्र के साथ स्वाहाकारपूर्वक अग्नि में हवि पड़ती है। मन्त्र का एक-एक शब्द रोगी के हृदय पर असर करता है। थोड़े-थोड़े अन्तर के पश्चात् प्रत्येक स्वाहाकार के साथ अग्नि

१. बृ० नि० र०
२. बृ०नि०र०

से हविर्धूम उठता है और श्वास-वायु के साथ रोगी के अन्तस्तल को स्पर्श करता हुआ रोग को दूर भगाता है। यज्ञिय वातावरण की शांति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने के लिए सोने में सुगन्ध का काम करती है। यह सब लाभ यज्ञविहीन शुष्क क्रिया द्वारा भला कहाँ सम्भव है?

## उपसंहार

अस्तु, शास्त्रीय प्रमाणों से हमने यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि यज्ञ द्वारा समस्त रोगों का निवारण सम्भव है। किस रोग में किन पदार्थों की हवि हितकर होगी इसका वैद्य-विद्वन्मंडली को अधिकाधिक अनुसंधान करना चाहिए। अथर्ववेद में अपामार्ग, गूगल, कुष्ठ, पिप्पली, पृश्निपर्णी, लाक्षा, अजशृङ्गी[१] आदि कतिपय ओषधियों का माहात्म्य-वर्णन मिलता है। हवन-सामग्री में गूगल का प्रयोग प्रायः किया जाता है। उसके विषय में अथर्ववेद में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥[२]

अर्थात् जिस मनुष्य को गूगल ओषध का उत्तम गन्ध प्राप्त होता है, उसे रोग पीड़ित नहीं करते और आक्रोश उसे नहीं घेरता। अश्वत्थ (पीपल), दर्भ, सोम, व्रीहि-यव की आहुति का भी विधान है।[३]

यज्ञ द्वारा रोग-निवारण शास्त्रकारों की कोरी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में रोग फैलने के समय में बड़े-बड़े यज्ञ

---

१. द्रष्टव्य अथर्व०—अपामार्ग ४.१७-१९, ७.६५, गुल्गुलु १९.३८, कुष्ठ ६.९५, पिप्पली ६.१०९, पृश्निपर्णी २.२५, लाक्षा ५.५, अजशृंगी ४.३७

२. अथर्व० १९.३८.१
(न तं) न उसे (यक्ष्माः) रोग (अरुन्धते) वश में करते हैं, (न एनं) न उसे (शपथः) आक्रोश (अश्नुते) घेरता है, (यं) जिसे (गुल्गुलोः भेषजस्य) गूगल औषध का (सुरभिःगन्धः) सुरभित गन्ध (अश्नुते) प्राप्त होता है।

३. अथर्व० ८.८.२०

किये जाते थे और जनता उनसे आरोग्य लाभ करती थी। इन्हें भैषज्य यज्ञ कहते थे। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

**भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि।**
**तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।**
**ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते॥**[१]

अर्थात् जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं, वे भैषज्य-यज्ञ कहलाते हैं क्योंकि रोगों को दूर करने के लिए होते हैं। ये ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं, क्योंकि ऋतु-सन्धियों में ही रोग फैलते हैं।

वर्तमान काल में भी वर्षा, शरद् और वसंत के आरम्भ में बड़े व्यापक रूप में रोग और महामारियाँ फैलती हैं, जिनके निवारण के लिए जनता और सरकार का करोड़ों रुपया व्यय हो जाता है, तो भी वे बीमारियाँ पूर्णतः नहीं रुक पातीं। यज्ञ एक ऐसा उपाय है जिससे स्वल्प व्यय में महान् लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जब सर्दी-जुकाम, मलेरिया, चेचक आदि रोग फैलने का समय हो, तब यदि घर-घर में और विशाल रूप में सार्वजनिक स्थानों में भी उन रोगों के निवारण के लिए उपयोगी ओषधियों से प्रतिदिन यज्ञ किये जाएँ तो सारा वायुमंडल उन रोगों के प्रतिकूल हो जाए और कहीं वे रोग न फैलें, या फैलें भी तो बहुत हल्के रूप में।

भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रोग उद्भूत होते हैं। किसी ऋतु में वात प्रकुपित होता है, किसी में पित्त, किसी में कफ। उन-उन प्रकोपों के शमन के अनुकूल हवन-सामग्री का प्रयोग करना उचित है। वेद में भी ऋत्वनुकूल हवनसामग्री का विधान है—

**"देवानां पाथं ऋतुथा हवींषि।"**[२]

---

१. गो०ब्रा०, उ० १.१९
२. अथर्व० ५.१२.१० अर्थात् ऋतुओं के अनुसार देवयज्ञ के अन्न और हवियाँ हों।

### तृतीय अध्याय

# अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक वेदमन्त्र

## १. अग्निहोत्र का आदेश

**यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा।**
**समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम्॥**[1]

*ऋषिः गृत्समदः शौनकः। देवता अग्निः।*
*छन्दः विराड् जगती।*

हे मनुष्यो, तुम (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा (जातवेदसम् अग्निं) उत्पन्न होकर प्रकाश देनेवाले यज्ञाग्नि को (वर्धत) बढ़ाओ। उस (समिधानं) प्रदीपक, (सुप्रयसं) संस्कृत हविष्यान्न को ग्रहण करनेवाले, (स्वर्णरं) मोक्ष की ओर ले जानेवाले, (द्युक्षं) दीप्तिनिवासक, (होतारं) होमसंपादक और (वृजनेषु धूर्षदं) बल के कार्यों में अग्रणी अग्नि को (हविषा) हवि से और (तना गिरा) विस्तृत वेदवाणी से (यजध्वं) देवयज्ञ द्वारा पूजित करो।

**आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम्।**
**आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत॥**[2]

*ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता अग्निः।*
*छन्दः विराड् बृहती।*

हे मनुष्यो, तुम (स्वध्वरं) भलीभाँति यज्ञ को संपन्न

---

१. ऋग्० २.२.१
२. ऋग्० ३.९.८

करनेवाले, (शीरं) सर्वत्र व्याप्त (पावकशोचिषम्) पवित्रताकारक ज्वाला वाले अग्नि में (आ जुहोत) हवियों की आहुति दो। उस (आशुं) शीघ्रतायुक्त, (दूतम्) दूत का कार्य करनेवाले, (अजिरं) गतिमान्, (ईड्यं) गुण वर्णन करने योग्य (देवं) प्रकाशमान एवं फलप्रदाता यज्ञाग्नि की (श्रुष्टी) शीघ्र (सपर्यत) हवि से पूजा करो।

**समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।**
**आस्मिन् हव्या जुहोतन॥**
**सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।**
**अग्नये जातवेदसे॥**[1]

*ऋषिः १ आङ्गिरसः, २ सुश्रुतः। देवता अग्निः।*
*छन्दः गायत्री।*

हे मनुष्यो, (समिधा) समिधा के द्वारा (अग्निं) यज्ञाग्नि की (दुवस्यत) परिचर्या करो। (अतिथिम्) अतिथि के तुल्य इस यज्ञाग्नि को (घृतैः) घृतों से (बोधयत) जागरित करो, (अस्मिन्) इसमें (हव्या) हवियों की (आजुहोतन)[2] आहुति दो॥

हे मनुष्यो, (सुसमिद्धाय) सम्यक् प्रकार से समिद्ध (शोचिषे) दीप्तिमान् (जातवेदसे अग्नये) उत्पन्न वस्तुओं को अथवा यजमानों के हृदयों को प्रकाशित करनेवाले यज्ञाग्नि के लिए (तीव्रं घृतं) पिघले हुए घृत की (जुहोतन) आहुति दिया करो॥

## २. नारियाँ एवं सारा परिवार अग्निहोत्र करे

**यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित।**
**तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते॥**[3]

---

१. यजु० ३.१,२
२. आजुहोतन=आ जुहुत; 'तप्तनप्तनथनाश्च' से त को तनप् आदेश। पा० ७.१.४५
३. ऋग्० २.५.६

*ऋषिः सोमाहुतिः भार्गवः । देवता अग्निः । छन्दः अनुष्टुप् ।*

(यदि) यदि (मातुः उप) यजमान की माता के समीप (स्वसा) उसकी बहिन (घृतं भरन्ती) होमार्थ घृत को ग्रहण किये हुए (अस्थित) स्थित होती है तो (तासाम् आगतौ) उनके यज्ञ में आने पर (अध्वर्युः) यज्ञ का संचालक पुरोहित अथवा यागेच्छु यजमान (मोदते) वैसे ही प्रसन्न होता है (इव) जैसे (यवः वृष्टी) जौ की खेती वर्षा से। अर्थात् जिस यज्ञ में माता, बहिनें आदि सारा परिवार भाग लेता है, वह यज्ञ प्रसन्नतादायक और प्रशंसनीय होता है।

**तद॒स्यानी॑कमु॒त चारु॒ नामा॑पी॒च्यं॑ वर्धते॒ नप्तु॑र॒पाम् ।
यमि॒न्धते॑ युव॒तय॒: समि॒त्था हिर॑ण्यवर्णं
घृ॒तमन्न॑मस्य ॥**[1]

*ऋषिः गृत्समदः शौनकः । देवता अपान्नपात् ।
छन्दः विराट् त्रिष्टुप् ।*

(अस्य अपां नप्तुः) इस जलों के पौत्र [क्योंकि जलों से वनस्पतियाँ और वनस्पतिकाष्ठों से अग्नि उत्पन्न होता है] यज्ञाग्नि का (अनीकं) ज्वालारूपी सैन्य (उत) और (अपीच्यं चारु नाम) सर्वत्र व्याप्त सुन्दर यश (वर्धते) बढ़ रहा है, (यम्) जिस यज्ञाग्नि को (इत्था) सत्यभाव से (युवतयः) नारियाँ (समिन्धते) समिद्ध करती हैं। (अस्य) इसका (हिरण्यवर्णं धृतम्) सोने जैसे रंगवाला गो-घृत (अन्नम्) अन्न है।

**उप॒ यमेति॑ युव॒तिः सु॒दक्षं॑ दो॒षा वस्तो॑र्ह॒विष्म॑ती
घृ॒ताची॑ ।
उप॒ स्वैन॑म॒रम॑तिर्वसू॒युः ॥**[2]

*ऋषिः वसिष्ठः । देवता अग्निः ।
छन्दः एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री ।*

---

१. ऋग्० २.३५.११
२. ऋग्० ७.१.६

(यं सुदक्षं) जिस शुभबलयुक्त यज्ञाग्नि को (हविष्मती) हवियों से युक्त तथा (घृताची) घृत-युक्त (युवतिः) युवति स्त्री (दोषावस्तोः) सायं-प्रातः (उप एति) अग्निहोत्र के लिए प्राप्त करती है, (एनम्) उस यज्ञाग्नि को (स्वा) अपनी (अरमतिः) उद्बोधक ज्वाला[1] (वसूयुः[2]) यज्ञकर्ताओं के लिए ऐश्वर्य को चाहती हुई (उप) प्राप्त होती रहती है।

**आ रोह चर्मोपसीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।**
**इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः॥[3]**

*ऋषिः सूर्या सावित्री। देवता आत्मा (वधूकर्तव्योपदेशः)। छन्दः पुरोबृहती त्रिष्टप्।*

हे वधू, तू (चर्म आरोह) मृगचर्म के आसन पर बैठ, (अग्निम् उपसीद) अग्निहोत्र कर। (एष देवः) यह प्रकाशमान और प्रकाशक यज्ञाग्नि (सर्वा[4] रक्षांसि) सब रोग-रूपी तथा कामक्रोधादि-रूपी राक्षसों को (हन्ति) मार देता है। (इह) इस गृहस्थाश्रम में (अस्मै पत्ये) इस पति के लिए (प्रजां जनय) सन्तान उत्पन्न कर। (ते एषः पुत्रः) तेरा यह पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) उत्तम ज्येष्ठ गुणोंवाला (भवत्) हो।

**समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः**
**समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।**
**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥[5]**

*ऋषिः अथर्वा। देवता सांमनस्यम्। छन्दः प्रस्तारपङ्क्तिः।*

हे परिवार के सदस्यो, (समानी प्रपा) एक ही तुम्हारी

---

१. अरम् अलं पर्याप्तं मतिः बोधो यया सा अरमतिः याज्ञिकानाम् उद्बोधनकर्त्री ज्वाला।
२. वसूनि ऐश्वर्याणि कामयते इति वसूयुः। क्यच्, 'क्याच्छन्दसि' पा० ३.२.१७० से उ प्रत्यय, 'अन्येषामपि दृश्यते' पा० ६.३.१३७ से दीर्घ।
३. अथर्व० १४.२.२४
४. सर्वा सर्वाणि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा० ६.१.७० से शि का लोप।
५. अथर्व० ३.३०.६

पानशाला हो, (सह वः अन्नभागः) एक-साथ तुम्हारा भोजन हो। (समाने योक्त्रे) समान स्नेहसूत्र में (सह) एक-साथ (वः युनज्मि) तुम्हें मैं बाँधता हूँ। तुम सब (सम्यञ्चः) चारों ओर बैठकर (अग्निं सपर्यतः) अग्निहोत्र किया करो, (इव) जिस प्रकार (अराः) पहिए के अरे (नाभिम् अभितः) नाभि के चारों ओर स्थिर होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार चक्र के अरों को जोड़नेवाली मध्यस्थ नाभि होती है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों को जोड़नेवाली मध्यस्थ अग्निहोत्र की अग्नि होती है।

### ३. अग्निहोत्र नैत्यिक कर्त्तव्य

**तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु।**
**अधि द्युम्नं निदधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्॥**[1]

*ऋषिः पराशरः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (नरः) यज्ञकर्ता लोग (दमे) घर में (नित्यं) नित्य (इद्धं) प्रदीप्त होनेवाले (तं त्वा) उस तुझको (ध्रुवासु क्षितिषु) अपनी निरुपद्रव निवास-भूमियों में (आ सचन्त) सदा सेवित करते हैं, और (अस्मिन्) इस तुझमें (भूरि द्युम्नम्) बहुत-सा हविष्यान्न (निदधुः) आहुत करते हैं। तू उनके लिए (विश्वायुः) पूर्ण आयु को प्राप्त करानेवाला और (रयीणां धरुणः) दीर्घायुष्य और तेजस्विता आदि ऐश्वर्यों का दाता (भव) हो।

**अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।**
**दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥**[2]

*ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता अग्निः।*
*छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।*

---

१. ऋग्० १.७३.८
२. ऋग्० ३.२९.२

(जातवेदाः अग्निः) उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक यज्ञाग्नि (अरण्यो निहितः) उत्तरारणि और अधरारणि दोनों के अन्दर निहित रहता है, (गर्भिणीषु गर्भः इव) गर्भिणियों के अन्दर गर्भ के समान (सुधितः) सुस्थित रहता है। वही संघर्षण द्वारा यज्ञवेदि में प्रकट किये जाने के अनन्तर (जागृवद्भिः) जागरूक (हविष्मद्भिः) हविष्मान् (मनुष्येभिः) मनुष्यों के द्वारा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति योग्य होता है।

**यज्ञो हि त॑ इन्द्र॒ वर्ध॑नो भूदु॒त प्रि॒यः सु॒तसो॑मो**
**मि॒येधः॑।**
**य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑व य॒ज्ञियः॒ सन् य॒ज्ञस्ते॒ वज्र॑महि॒हत्य॑**
**आवत्॥**[1]

*ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(इन्द्र) हे आत्मन् अथवा हे यजमान, (यज्ञः हि) यज्ञ निश्चय ही (ते वर्धनः भूत्) तेरा बढ़ानेवाला है, (उत) और (प्रियः) प्रिय (सुतसोमः) सोम अभिषुत करने योग्य तथा (मियेधः)[2] दुःखों को प्रक्षिप्त करनेवाला है। (यज्ञियः सन्) यज्ञार्ह होता हुआ तू (यज्ञेन) यजन-कर्म द्वारा (यज्ञम् अव) यज्ञ की रक्षा कर। (यज्ञः) यज्ञ (अहिहत्ये) रोगादि तथा कामादि शत्रुओं के विनाश में (ते वज्रम्) तेरे वज्र-तुल्य शरीर की (आवत्) रक्षा करता है।

**न्य॒ग्निं जा॒तवे॑दसं॒ दधा॑ता दे॒वमृ॒त्विज॑म्।**
**प्र य॒ज्ञ ए॑त्वानुष॒गद्या दे॒वव्य॑चस्तमः॥**[3]

*ऋषिः विश्वसामा आत्रेयः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।*

हे मनुष्यो, तुम (देवम्) प्रकाशमान और प्रकाशक (ऋत्विजम्) प्रत्येक ऋतु में यजन करने योग्य (जातवेदसम्

---

१. ऋग्० ३.३२.१२
२. 'येन मिनोति दुःखं प्रक्षिपति सः। अत्र बाहुलकादौणादिक एधप्रत्ययः।'
—दयानन्द।
३. ऋग्० ५.२२.२

अग्निम्) यज्ञाग्नि को (निदधात) यज्ञवेदि में निहित करो। इस प्रकार (देवव्यचस्तमः यज्ञः) विद्वानों में अतिशय व्यापक यज्ञ (आनुषक्) आगे निरन्तर और (अद्य) आज भी (प्र एतु) चलता रहे।

**त्वे अ॑ग्न आ॒हव॑नानि॒ भूरी॑शा॒नास॒ आ जु॑हुयाम॒ नित्या॑।**
**उ॒भा कृ॒ण्वन्तो॑ वह॒तू मि॒येधे॑॥**[1]

*ऋषिः वसिष्ठः। देवता अग्निः। छन्दः विराट्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (ईशानासः) धनादि के अधीश्वर होते हुए हम (मियेधे) दुःखविनाशक यज्ञ में (उभा) दोनों प्रकार के पाठ्य तथा गेय (वहतू) मन्त्रों को (कृण्वन्तः) उच्चारण करते हुए (नित्या)[2] नित्य (आहवनानि) हवियों को (त्वे जुहुयाम) तुझसे आहुत करते रहें।

**इन्धा॑नास्त्वा श॒तं हिमा॑ द्यु॒मन्तं॒ समि॑धीमहि।**
**वय॑स्वन्तो व॒यस्कृ॒तं॒ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्।**
**अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ अदा॑भ्यम्।**
**चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते पा॒रम॑शीय॥**[3]

*ऋषिः अवत्सारः। देवता अग्निः।*
*छन्दः निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिः।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (इन्धानाः) अपने-आपको देदीप्यमान करते हुए (द्युमन्तं त्वा) तुझ दीप्तिमान् को (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (समिधीमहि) हम प्रज्वलित करते रहें। (वयस्वन्तः) अन्नवान् या दीर्घायु हम (वयस्कृतं) अन्न और दीर्घायुष्य को प्रदान करनेवाले तुझे, (सहस्वन्तः) बली हम (सहस्कृतम्) बलोत्पादक तुझे तथा (अदब्धासः) अपराजित हम (अदाभ्यम्) अपराजेय और (सपत्नदम्भनम्) रोग एवं कामादि शत्रुओं के पराजेता तुझे प्रज्वलित करते हैं जिससे

---

१. ऋग्० ७.१.१७
२. नित्या=नित्याम्। 'सुपां सुलुक्' पा० ७.१.३९ से सु को आ।
३. यजु० ३.१८

सदैव हम अन्नवान्, दीर्घायु, बली और अपराजित बने रहें। (चित्रावसो) हे चित्रविचित्र ज्वालारूपी धनवाले (स्वस्ति) तेरे द्वारा हमारा कल्याण हो, (ते पारम् अशीय) मैं तेरे पार को अर्थात् अग्निहोत्र की पूर्णता को प्राप्त करूँ।

**अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा**
**प्रजया धनेन।**
**सन्या मेधया रय्या पोषेण॥**[1]

*ऋषिः वत्सप्रीः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् अनुष्टुप्।*

(अभ्यावर्तिन् अग्ने) हे प्रतिदिन लौटकर आनेवाले यज्ञाग्नि, तू (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ, (वर्चसा) तेज के साथ, (प्रजया) सन्तान के साथ, (धनेन) धन के साथ, (सन्या) अपनी देन के साथ, (मेधया) मेधा के साथ, (रय्या) ऐश्वर्य के साथ और (पोषेण) पुष्टि के साथ (मा अभि) मेरे प्रति (निवर्तस्व) प्रतिदिन लौटकर आ अर्थात् प्रतिदिन हम तुझमें अग्निहोत्र करें और तू उपर्युक्त वस्तुओं को हमें प्रदान कर।

**पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा।**
**पुनर्नः पाह्यंहसः॥**[2]

*ऋषिः वत्सप्रीः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् गायत्री।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू (ऊर्जा)[3] दुग्धादि रस के साथ (पुनः निवर्तस्व) पुनः हमारे बीच में लौटकर आ, (पुनः) पुनः (इषा)[4] अन्न, विज्ञान, कर्मण्यता, अभीष्ट सुख आदि के साथ और (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ लौटकर आ। (पुनः) पुनः-पुनः (नः) हमारी (अंहसः) पाप से (पाहि) रक्षा कर।

---

१. यजु० १२.७
२. यजु० १२.९
३. ऊर्जं दधाथामिति रसं दधाथामित्येवैतदाह। श० ब्रा० ३.९.४.१८
४. इषु इच्छायाम्, इष गतौ। इष्=अन्न (निघ० २.७)। इषम् अन्नं विज्ञानं वा, इषम् इष्टं सुखम् इति क्रमशः ऋग् ७.४८.४, ऋग्० १.१८४.६ भाष्ये दयानन्दः।

**सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।**
**वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥[1]**
**प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता।**
**वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥[2]**

*ऋषिः भृगुः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(गृहपतिः अग्निः) गृहरक्षक यज्ञाग्नि (सायं सायं) प्रत्येक सायंकाल और (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (नः) हमें (सौमनसस्य)[3] आरोग्य, आनन्द और सुमनस्कता का तथा (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का (दाता) देनेवाला है। हे यज्ञाग्नि, सदा (वसुदानः एधि) ऐश्वर्यप्रदाता बना रह। (वयं) हम सब (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रज्वलित करते हुए (तन्वं पुषेम) शरीर को पुष्ट करते रहें॥

(गृहपतिः अग्निः) गृहरक्षक यज्ञाग्नि (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल, और (सायं सायं) प्रत्येक सायंकाल (नः) हमें (सौमनसस्य) आरोग्य, आनन्द और सुमनस्कता का तथा (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का (दाता) देनेवाला है। हे यज्ञाग्नि, तू सदा (वसुदानः एधि) ऐश्वर्यप्रदाता बना रह। हम (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रज्वलित करते हुए (ऋधेम) समृद्ध होते रहें।

**त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत्।**
**अहरहर्बलिमित् ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥[4]**

*ऋषिः भृगुः। देवता अग्निः। छन्दः आस्तारपंक्तिः।*

---

१. अथर्व० १९.५५.३ २. अथर्व० १९.५५.४
३. (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्य आनन्दस्य च दाता। ऋ०भा०भू०, प०म०य० विधि।
४. अथर्व० १९.५५.६

(पुरुहूत) बहुतों से आहूत (इन्द्र)[१] रोगादि विदारक (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वं) तू हमें (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (व्यश्नवत्) प्राप्त करा। (तिष्ठते अश्वाय घासम् इव) जैसे खड़े हुए घोड़े के लिए घास लाते हैं वैसे ही (तिष्ठते ते) यज्ञकुण्ड में स्थित तेरे लिए (अहः अहः) प्रतिदिन हम (बलिं हरन्तः) घृतादि हव्य का उपहार लाते रहें।

## ४. व्रत और श्रद्धा पूर्वक यज्ञ करें

**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं**
**तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥[२]**

*ऋषिः प्रजापतिः, परमेष्ठी प्राजापत्यः, देवा वा प्राजापत्याः।*
*देवता अग्निः। छन्दः आर्ची त्रिष्टुप्।*

(व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, मैं (व्रतं चरिष्यामि) यज्ञ का व्रत ग्रहण करूँगा। (तत्) उस व्रत को (शकेयम्) पालन करने में समर्थ होऊँ। (मे तत्) मेरा वह व्रत (राध्यताम्) सफल हो। (इदम् अहम्) यह मैं (अनृतात्) असत्य व्यवहार को छोड़कर (सत्यम्) सत्यमय यज्ञ को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ।

**अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।**
**व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥[३]**

*ऋषिः अश्वतराश्विः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदनुष्टुप्।*

(व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, मैं (त्वयि) तुझमें (समिधम्) समिधा (अभ्यादधामि) आधान करता हूँ। (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, तथा (दीक्षितः अहम्) दीक्षित होकर मैं (त्वा इन्धे) तुझे प्रज्वलित करता हूँ।

---

१. इन्द्रा=इन्द्र। छान्दस दीर्घ। इन्द्र यहाँ अग्नि के लिए ही आया है, यतः मन्त्र का देवता अग्नि ही है। इदं रोगादिकं दृणाति विदारयति इति इन्द्रः।
२. यजु० १.५
३. यजु० २०.२४

**स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ सूक्तेन महा नमसा विवासे।**
**अस्मिन्नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वे देवा हविषि मादयध्वम्॥**[1]

*ऋषिः ऋजिश्वा। देवता विश्वे देवाः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(बर्हिषि स्तीर्णे) कुशानिर्मित आसन के यज्ञवेदि पर बिछ जाने पर, (अग्नौ समिधाने) यज्ञाग्नि के प्रदीप्त हो चुकने पर (सूक्तेन) वैदिक सूक्त से (महा नमसा) बड़ी श्रद्धा के साथ (आ विवासे) मैं अग्नि-पूजा अर्थात् अग्निहोत्र करता हूँ। (यजत्राः विश्वे देवाः) हे यजनीय समस्त विद्वानो, (अद्य) आज (अस्मिन् नः हविषि विदथे) इस हमारे हवि यज्ञ में आकर हमें (मादयध्वम्) आनन्द या तृप्ति प्रदान करो।

**श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।**
**श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥**
**श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।**
**श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥**[2]

*ऋषिः श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा। छन्दः अनुष्टुप्।*

(श्रद्धया) श्रद्धा के साथ (अग्निः) यज्ञाग्नि (समिध्यते) प्रज्वलित की जाती है, (श्रद्धया) श्रद्धा के साथ (हविः हूयते) हवि की आहुति दी जाती है। (श्रद्धां) श्रद्धा को (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्यों के शिखर पर (वचसा) वचन द्वारा (आ वेदयामसि) हम बतलाते हैं॥

(यजमानाः) यज्ञ करनेवाले (वायुगोपाः) प्राणायाम के अभ्यासी (देवाः) विद्वान् लोग (श्रद्धाम् उपासते) श्रद्धा को ग्रहण करते हैं, (हृदय्यया आकूत्या) हृदय-स्थित दृढ़ संकल्प के साथ वे (श्रद्धाम्) श्रद्धा को ग्रहण करते हैं। (श्रद्धया)

---

१. ऋग्० ६.५२.१७
२. ऋग्० १०.१५१.१,४

श्रद्धा से मनुष्य (वसु) ऐश्वर्य को (विन्दते)[१] प्राप्त कर लेता है।

### ५. मन्त्रोच्चारण भी करें

**उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।**
**आरे अस्मे च शृण्वते॥**[२]

*ऋषिः गोतमः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् गायत्री।*

हम (अध्वरम् उपप्रयन्तः) यज्ञ में पहुँचकर (आरे) दूर भी (अस्मे च) और हमारे समीप भी (शृण्वते) प्रार्थना को सुन लेनेवाले, पूर्ण कर देनेवाले (अग्नये) परमात्मा के प्रति (मन्त्रं) वेदमन्त्र (वोचेम) उच्चारण करें।

### ६. होम के साथ ध्यान भी करें

**अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।**
**अग्निमीधे विवस्वभिः॥**[३]

(मर्त्यः) मनुष्य (मनसा) मनोयोग से या श्रद्धा से (अग्निम् इन्धानः) यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करता हुआ (धियं सचेत) ध्यान भी करे। मैं (विवस्वभिः) सूर्यकिरणों के आगमन के साथ (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (ईधे) प्रज्वलित करता हूँ।

### ७. गोघृत की आहुति

**आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।**
**घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि**
**रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥**[४]

*ऋषिः वैखानसः। देवता अग्निः। छन्दः स्वराट् त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (हविषा वृधानः) हवि से बढ़ता हुआ

---

१. विद्लृ लाभे, तुदादि। विन्दति, विन्दते।
२. यजु० ३.११
३. ऋग्० ८.१०२.२२
४. यजु० ३५.१७

(घृतप्रतीकः)[१] प्रदीप्त ज्वालारूप मुखवाला और (घृतयोनिः)[२] घृतरूप कारण से प्रकट होता हुआ तू (आयुष्मान् एधि) दीर्घजीवी हो अर्थात् चिरकाल तक तुझे प्रदीप्त कर याज्ञिक लोग यज्ञ करते रहें। (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मधुर, श्रेष्ठ गो-घृत का पान करके (पिता इव पुत्रम्) जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है वैसे (इमान्) इन यजमानों की (अभि रक्षतात्) रक्षा कर, (स्वाहा) तुझमें हम आहुति देते हैं।

**त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।**
**त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे**
**देवयद्भिः ॥[३]**

*ऋषिः सुमित्रो वाध्र्यश्वः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(जातवेदः) हे उत्पन्न प्राणियों को प्रकाश देनेवाले यज्ञाग्नि, (त्वे) तेरे लिए हमने (सुदुघा धेनुः) प्रचुर दूध देनेवाली गाय पाली हुई है, जो कि (असश्चता इव) प्रतिकूलता न प्रकट करनेवाली पृथिवी के समान (समनाः) हमारे साथ अनुकूल मनवाली होती हुई (सबर्धुक्) यज्ञार्थ दुग्धामृत को प्रदान करती है। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वं) तू (दक्षिणावद्भिः) दक्षिणा देनेवाले (देवयद्भिः) दिव्य गुणों की कामना करनेवाले (सुमित्रेभिः) हम सुमित्रों से (इध्यसे) प्रज्वलित किया जाता है।

**घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम्।**
**घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते**
**सर्पिरासुतिः ॥[४]**

*ऋषिः सुमित्रो वाध्र्यश्वः। देवता अग्निः। छन्दः जगती।*

(वध्र्यश्वस्य[५] अग्नेः) रोगादि की वधकर्त्री व्यापक ज्वालाओं से युक्त यज्ञाग्नि का (घृतम्) गो-घृत (वर्धनम्)

---

१. घृतं प्रदीप्तं प्रतीकं ज्वालारूपं मुखं यस्य सः। घृ क्षरणदीप्त्योः।
२. घृतम् आज्यं योनिः कारणं यस्य सः।
३. ऋग्० १०.६९.८ ४. ऋग्० १०.६९.२
५. वध्र्यः रोगादीनां वधकर्त्र्यः अश्वाः व्याप्ताः ज्वालाः यस्य स वध्र्यश्वः तस्य।

बढ़ानेवाला है, (घृतम् अन्नम्) घृत ही अन्न है, (घृतम् उ) घृत ही (अस्य) इसका (मेदनम्) स्नेहनकर्ता है। (घृतेन आहुतः) घृत से आहुति दिया हुआ यह (उर्विया)[१] विशालता के साथ (वि पप्रथे) विस्तीर्ण होता है। (सर्पिरासुतिः)[२] घृत से सिक्त हुआ यह अग्नि (सूर्यः इव) सूर्य के समान (रोचते) चमकता है।

**घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।**
**घृतं ते देवीर्नप्त्यऽ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने॥**[३]

*ऋषिः शौनकः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (ते दिव्ये सधस्थे) तेरे सुसज्जित यज्ञगृह में (घृतं) घृत तैयार रखा है। (घृतेन) उस घृत से (अद्य) आज (मनुः) विचारशील मैं (त्वां) तुझे (समिन्धे) प्रज्वलित करता हूँ। (नप्त्यः[४] देवीः) यज्ञ के व्रत से च्युत न होनेवाली नारियाँ (ते) तुझे (घृतम् आवहन्तु) घृत प्रदान करें। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (गावः) गौएँ (तुभ्यं) तेरे लिए (घृतं दुह्रताम्) घृत देती रहें।

## ८. हवि कैसी हो?

**पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।**
**जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः॥**[५]

*ऋषिः गाथी कौशिकः। देवता पुरीष्या अग्नयः।*
*छन्दः विराड् अनुष्टुप्।*

---

१. उर्विया उरु, 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से सु को इयच् आदेश।
२. सर्पिः घृतम् आसूयते सिच्यते यस्मिन् सः।
३. अथर्व० ७.८२.६
४. न पतन्ति यज्ञव्रतात् च्यवन्ते इति नप्त्यः नियमेन यज्ञसेविन्यो देवीः देव्यः नार्यः।
५. ऋग्० ३.२२.४

(प्रवणेभिः सजोषसः) चतुर यजमानों द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवन की गई (पुरीष्यासः[1] अग्नयः) वृष्टिजल प्रदान के लिए हितकर अग्नियाँ (यज्ञं) यज्ञ को तथा (अद्रुहः) द्रोह न करनेवाले (अनमीवाः) आरोग्यकर (महीः) पुष्टिप्रद (इषः) हविष्यान्नों को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें।[2]

## ९. समिधा कैसी हो?

**यदत्त्युपजिह्विका यद् वम्रो अतिसर्पति।**
**सर्वं तदस्तु ते घृतम्॥**[3]

*ऋषिः प्रयोगो भार्गवः अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः।*
*देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।*

(यत्) जिस लकड़ी को (उपजिह्विका) दीमक (अत्ति) खाती है, (यत् वम्रः अतिसर्पति) जिसमें दीमक जाति का अन्य कीट लग जाता है, (सर्वं तत्) वह सब पीपल, ढाक, आम आदि की कोमल लकड़ी (ते घृतम् अस्तु) तेरा प्रदीपक हो।

**उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत।**
**जुषस्व समिधो मम॥**[4]

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।*

---

१. पुरीषम् इत्युदकनाम (निघं० १.१२)। पुरीषाय वृष्ट्युदकाय हिताः पुरीष्याः। त एव पुरीष्यासः, 'आज्जसेरसुक्' पा० ७.१.५० से जस् को असुक् का आगम।

२. इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द-कृत संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण की निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—
"होत्र द्रव्य के चार प्रकार—(प्रथम सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि। (तीसरे मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। (चौथे रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ।"
इसके अतिरिक्त दही भात, खीचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि हव्य बनाने के लिए भी लिखा है।

३. ऋग्० ८.१०२.२१ ४. यजु० ३.४

(हर्यत[१] अग्ने) हे गतिमान् कान्तिमान् यज्ञाग्नि, (हविष्मतीः) हवियों से युक्त, (घृताचीः) घृत में डूबी हुई समिधाएँ (त्वा उपयन्तु) तेरे समीप पहुँचें। (मम समिधः) मेरी समिधाओं का तू (जुषस्व) सेवन कर।[२]

प्लक्ष (पाकड़), अश्वत्थ (पीपल), खदिर (खैर), धव, न्यग्रोध (बड़), पर्ण (पलाश) का नाम लाक्षाप्रकरण में अथर्ववेद में आता है। जिन वृक्षों से लाख निकलती है, उनकी समिधा यज्ञ के लिए उपयोगी है।[३]

## १०. अग्निहोत्री के उद्गार

**इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।**
**यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥**[४]

*ऋषिः कतो वैश्वामैत्रः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (इच्छमानः) यज्ञफल की इच्छा रखता हुआ मैं (तरसे बलाय) वेग और बल की प्राप्ति के लिए (इध्मेन घृतेन) समिधा और घृत के साथ (ब्रह्मणा वन्दमानः) वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ (यावद् ईशे) जितना समर्थ होता हूँ उतना (हव्यं जुहोमि) हवि को आहुत करता हूँ और (शतसेयाय) सैकड़ों लाभों को प्राप्त करने के

---

१. हर्य गतिकान्त्योः।
२. यज्ञ-समिधाओं के विषय में संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा-लगी, मलिन-देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों।"
३. द्रष्टव्य : अथर्व० ५.५.५
४. ऋग्० ३.१८.३

लिए (इमां देवीं धियम्) इस दिव्य बुद्धि को यज्ञ के प्रति प्रेरित करता हूँ।

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।
जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे॥[1]

*ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(जातवेदः अग्ने) हे प्रकाशक यज्ञाग्नि, (वयं) हम (त्वा) तुझे (इडायाः पदे) यज्ञवेदि के स्थल यज्ञगृह में (पृथिव्याः नाभा[2] अधि) यज्ञवेदि के मध्य में (हव्याय वोढवे[3]) हवि वहन करने के लिए (नि धीमहि) स्थापित करते हैं।

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।
अग्ने बृहन्तमध्वरे॥[4]

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् गायत्री।*

(कवे अग्ने) हे गतिशील यज्ञाग्नि, (अध्वरे) यज्ञ में (वीतिहोत्रं) हव्य पदार्थों का भक्षण करनेवाले, (द्युमन्तं) ज्योतिष्मान्, (बृहन्तम्) विशाल (त्वा) तुझे (समिधीमहि) हम प्रज्वलित करते हैं।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनो-
त्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु।
विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म् प्रतिष्ठ॥[5]

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता बृहस्पतिः। छन्दः विराड् जगती।*

(जूतिः मनः) क्रियाशील मन (आज्यस्य जुषताम्) यज्ञ में घृत का ग्रहण करे, (बृहस्पतिः) ज्ञानी पुरोहित (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (तनोतु) फैलाए, वह (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को

---

१. ऋग्० ३.२९.४
२. नाभा=नाभौ। सुपां सुलुगिति सप्तम्या डादेशः।
३. वोढवे वोढुम्। यहां तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में तवेन् प्रत्यय है।
४. यजु० २.४
५. यजु० २.१३

(अरिष्टं) अविघ्नित रूप से (सं दधातु) सम्पन्न करे। (विश्वे देवासः[१]) सब विद्वज्जन (इह) इस यज्ञ में (मादयन्ताम्) तृप्तिलाभ करें। (ओ३म्) हे परमेश्वर, (प्रतिष्ठ) आप भी इस यज्ञ में प्रकृष्ट रूप से स्थित हों।

**एषा तें अग्ने समित्तया वर्धस्व चा चं प्यायस्व।**
**वर्धिषीमहिं च वयमा चं प्यासिषीमहि।**
**अग्नें वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं**
**वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि॥[२]**

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता अग्निः। छन्दः पूर्वस्य अनुष्टप्, अग्ने वाजेत्युत्तरस्य निचृद् गायत्री।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (एषा ते समित्) यह तेरी समिधा है, (तया) उससे (वर्धस्व) बढ़, (आप्यायस्व[३] च) और समृद्ध हो। (वर्धिषीमहि च वयम्) हम भी बढ़ें, (आप्यासिषीमहि च) और समृद्ध हों। (वाजजित् अग्ने) हे बलविजेता यज्ञाग्नि, (वाजं) बली, (ससृवांसं) क्रियाशील तथा (वाजजितं) बलविजेता (त्वा) तुझे (संमार्ज्मि[४]) मैं सुगन्धित द्रव्यों की आहुति से संस्कृत करता हूँ।

**अग्नें गृहपते सुगृहपतिस्त्वयांऽग्नेऽहं गृहपंतिना**
**भूयासं सुगृहपतिस्त्वं मयांऽग्ने गृहपंतिना भूयाः।**
**अस्थूरि णौ गार्हंपत्यानि सन्तु शतं हिमाः**
**सूर्यंस्यावृतमन्वावंर्ते॥[५]**

*ऋषिः वामदेवः। देवता अग्निः। छन्दः पूर्वार्द्धे निचृत् पङ्क्तिः, उत्तरार्द्धे गायत्री।*

(गृहपते अग्ने) हे गृहरक्षक यज्ञाग्नि, (त्वया गृहपतिना) तुझ गृहपति के साथ (अहं) मैं (सुगृहपतिः) उत्तम गृहपति

---

१. देवासः=देवाः। 'आज्जसेरसुक्' पा० ७.१.५०
२. यजु० २.१४
३. ओप्यायी वृद्धौ।
४. मृजूष् शुद्धौ।
५. यजु० २.२७

(भूयासम्) बनूँ। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (मया गृहपतिना) मुझ गृहपति के साथ (त्वं) तू (सुगृहपतिः) उत्तम गृहपति (भूयाः) बन। (नौ) हम दोनों के (गार्हपत्यानि) गृहपतित्व (अस्थूरि) अनिन्दित (सन्तु) हों। मैं यज्ञकर्ता (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (सूर्यस्य आवृतम् अनु) सूर्य के आवागमन के साथ (आवर्ते) जीवन-यात्रा करता रहूँ।

**तं त्वां समिद्भिरङ्गिरो घृतेनं वर्धयामसि।**
**बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥**[1]

*ऋषिः भारद्वाजः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री।*

(अङ्गिरः[2]) हे अङ्गाररूप, गतिमान्, अथवा प्राणप्रद यज्ञाग्नि, (तं त्वा) उस तुझको (समिद्भिः) समिधाओं से (घृतेन) और घृत से (वर्धयामसि[3]) हम बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य[4]) हे समृद्धतम यज्ञाग्नि, तू (बृहत्) बहुत अधिक (शोच[5]) चमक।

**पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।**
**वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥**[6]

*ऋषिः और्णवाभः । देवता यज्ञः । छन्दः अनुष्टुप्।*

(दर्वि) हे यज्ञ-चमस, तू (पूर्णा) घृत से पूर्ण होकर (परापत) यज्ञाग्नि में गिर, (सुपूर्णा) अच्छी तरह परिपूर्ण होकर (पुनः आपत) पुनः आकर गिर। इस प्रकार (शतक्रतो) हे सैकड़ों यज्ञों के साधनभूत यज्ञाग्नि, (वस्ना इव) मानो मूल्य देकर हम दोनों (इषम्) हविर्भूत अन्न का तथा (ऊर्जम्) रस,

---

१. यजु० ३.३
२. 'अङ्गारेष्वङ्गिराः'—निरुक्त (३.१७)। 'अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रस् प्रत्ययो मत्वर्थीयः'—महीधर। 'प्राणा वा अङ्गिरा'—श० ब्रा० ६.१.२.२८।
३. वर्धयामसि वर्धयामः। 'इदन्तो मसि' पा० ७.१.४६ से मस् इदन्त।
४. अतिशयेन युवा यविष्ठः। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। स्वार्थे तद्धितयकारः।
५. शोचा शोच। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' पा० ६.३.१३५ से दीर्घ।
६. यजु० ३.४९

बल, प्राण आदि का (वि क्रीणावहै) क्रय-विक्रय करते रहें। अर्थात् हे यज्ञाग्नि, मैं तुझे घृत, अन्नादि की आहुति दूँ और तू मुझे बदले में रस, बल, प्राण आदि प्रदान कर।

## ११. अग्निहोत्र से वर्षा

**आ तें सुपर्णा अंमिनन्त एवैः कृष्णो नोंनाव वृषभो यदीदम्।**
**शिवाभिर्न स्मयंमानाभिरागात् पतंन्ति मिहंः स्तनयंन्त्यभ्रा ॥**[1]

*ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

हे यज्ञाग्नि, (ते सुपर्णाः) तेरी ज्वालाएँ (एवैः) गतिशील वायुओं के द्वारा (आ अमिनन्त) बादल को प्रताड़ित करती हैं, तब (कृष्णः वृषभः) वह काला, वर्षा करनेवाला बादल (नोनाव) शब्द करने लगता है। (यदि इदम्) जब ऐसा होता है तब (शिवाभिः स्मयमानाभिः न) सुखदायक मुस्कराती हुई युवतियों के सदृश बिजलियों के साथ वह बादल (आगात्) आता है। (मिहः पतन्ति) मेह की धारें बरसती हैं और (अभ्रा स्तनयन्ति) जल-भरे मेघ गरजते हैं।

**समानमेतदुंदकमुच्चैत्यव चाहंभिः।**
**भूमिं पर्जन्या जिन्वंन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयंः ॥**[2]

*ऋषिः दीर्घतमा औचथ्यः। देवता सूर्यः पर्जन्योऽग्नयो वा।*
*छन्दः विराड् अनुष्टुप्।*

(एतद् उदकम्) यह जल (समानं) समान रूप से (अहभिः) दिनों के अनुसार (उद् एति च) ऊपर जाता है, (अव एति च) और नीचे आता है। (पर्जन्याः) बादल (भूमिं जिन्वन्ति) भूमि को तृप्त करते हैं, (अग्नयः) यज्ञाग्नियाँ (दिवं जिन्वन्ति) आकाश को तृप्त करती हैं अर्थात् भूमिष्ठ

---

१. ऋग्० १.७९.२
२. ऋग्० १.१६४.५१

जल को वृष्टि करने के लिए ऊपर ले जाती हैं।[१]

**स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम्।**
**स नः सहस्त्रिणीरिषः ॥[२]**

*ऋषिः सोमाहुतिर्भार्गवः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।*

(सः) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (दिवः परि) आकाश से (वृष्टिं) वर्षा को लाता है। (सः) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (अनर्वाणम्[३]) अ-हानिकर (वाजम्) अन्न को प्रदान करता है। (सः) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (सहस्त्रिणीः इषः) सहस्त्रों रसों को देता है।

**घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः।**
**अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥[४]**

*ऋषिः कविः भार्गवः। देवता पवमानः सोमः। छन्दः गायत्री।*

हे सौम्य यजमान, (देववीतमः) दिव्यगुणों की अतिशय कामना करनेवाला तू (यज्ञेषु) यज्ञों में (धारया) धार के साथ (घृतं) घृत को (पवस्व) प्रवाहित कर। इस प्रकार (अस्मभ्यं) हमारे लिए (वृष्टिम्) वर्षा को (आ पव) स्रवित कर।

**अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।**
**अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह ॥[५]**

*ऋषिः देवापिरार्ष्टिषेणः। देवता देवाः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू हमारे अन्दर से (मृधः) हिंसा-वृत्तियों को (वि बाधस्व) दूर कर, (दुर्गहा वि) बड़ी

---

१. तुलनीय : अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु० ३.७६

२. ऋग्० २.६.५

३. ऋणोति हिनस्ति इति अर्वा। न अर्वा अनर्वा तम्।

४. ऋग्० ९.४९.३

५. ऋग्० १०.९८.१२

कठिनाई से पकड़ में आनेवाले दोषों को दूर कर, (अमीवाम् अप सेध) रोगों को दूर कर, (रक्षांसि अप सेध) काम, क्रोध आदि राक्षसों को नष्ट कर। (दिवः) आकाश के (अस्मात् बृहतः समुद्रात्) इस महान् पर्जन्यरूप समुद्र से (नः) हमारे लिए (इह) यहाँ (अपां भूमानम्) जलों की प्रचुरता को (उपसृज) उत्पन्न कर।

## १२. अग्निहोत्र से पुत्र-प्राप्ति

**स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे।**
**सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुंष्यति॥**[1]

*ऋषिः विश्वामित्रः। देवता अग्निः। छन्दः उष्णिक्।*

(यः) जो मनुष्य (जातवेदसे ते) तुझ यज्ञाग्नि के लिए (घ)[2] निश्चय ही (समिधा)[3] समिधाओं और प्रदीपक अन्य हवियों को (ददाशति)[4] देता है, (सः) वह (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (सुवीर्यं[5] धत्ते) शोभन सामर्थ्य से युक्त पुत्र को प्राप्त करता है, और (सः) वह (पुष्यति) समृद्ध होता है।

**इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।**
**स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥**[6]

*ऋषिः उत्कीलः कात्यः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (तू पुरुदंसं)[7] बहुत कर्म करनेवाले

---

१. ऋग्० ३.१०.३
२. घा=घ। 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' पा० ६.३.१३३ से दीर्घ।
३. समिधा=समिधः। सम् इन्धी दीप्तौ, क्विप्। 'सुपासुलुग' पा० ७.१.३९ से शस् को डा=आ आदेश।
४. ददाशति। दाशृ दाने, भ्वादि। 'बहुलं छन्दसि' पा० २.४.७६ से शप् को श्लु। द्वित्व।
५. 'सुवीर्यं शोभनसामर्थ्योपेतं पुत्रम्'—सायण। शोभनं वीर्यं यस्य स सुवीर्यः, इति बहुव्रीहिः। सोरुत्तरो वीर्यशब्दो बहुव्रीहौ 'वीरवीर्यौ च' पा० ६.२.१२० इत्याद्युदात्तः।
६. ऋग्० ३.१५.७
७. पुरुणि बहूनि दंसांसि कर्माणि यस्य तम् पुत्रम्। दंसः-कर्म (निघं० २.१)।

पुत्र को (इडां) भूमि को, (गोः सनिं) गाय की दुग्ध, घृत आदि देन को (शश्वत्तमं) निरन्तर (हवमानाय) हवन करनेवाले मेरे लिए (साध) प्रदान कर। (नः सूनुः) हमारा पुत्र (तनयः) वंश का विस्तार करनेवाला और (विजावा)[1] विशेष गुणों से प्रसिद्ध (स्यात्) होवे, (सा) ऐसी (ते सुमतिः) तेरी सुमति (अस्मे भूतु) हमारे प्रति हो।

**गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।**
**इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥**[2]

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(असुर अग्ने) हे प्राणप्रद यज्ञाग्नि, तेरे द्वारा (गोमान्) गौओं से युक्त (अविमान्) भेड़ों से युक्त, (अश्वी) घोड़ों से युक्त, (यज्ञः) यजनशील, (नृवत्सखा) नेतृत्व करनेवालों का सखा, (सदम् इत् अप्रधृष्यः) सदा ही अपराजेय, (इळावान्[3]) भूमि अन्न और वाणी का स्वामी, (एषः) गतिशील, कर्मण्य (प्रजावान्) प्रशस्त प्रजावाला, (दीर्घः) दीर्घ दृष्टिवाला, (पृथुबुध्नः) विशाल मस्तिष्कवाला और (सभावान्) सभ्य (रयिः[4]) पुत्र प्राप्त होता है।

**यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः।**
**तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः॥**[5]

*ऋषिः सुतम्भर आत्रेयः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो (नमसा) श्रद्धा के साथ अथवा अन्न की हवि से (ते) तेरे लिए (यज्ञम् ईट्टे) यज्ञ का

---

१. विशेषेण जायते प्रख्यातो भवति इति विजावा। वि-जनी प्रादुर्भावे, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' पा० ३.२.७५ से वनिप्। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' पा० ६.४.४१ से धातु के अय् को आ।

२. ऋग्० ४.२.५

३. इडा=पृथिवी, अन्न, वाणी (निघं० १.१, १.११, २.७)।

४. 'रयिः' पुत्रः' इति ऋग्० ४.२.७ भाष्ये सायणः।

५. ऋग्० ५.१२.६

यजन करता है, (सः) वह (अरुषस्य) आरोचमान (वृष्णः) वर्षक तुझ अग्नि के (ऋतं) सत्य प्रभाव की (पाति) रक्षा करता है। (तस्य) उस (प्रसर्स्राणस्य) प्रगतिशील (नहुषस्य)[1] मनुष्य को (पृथुः क्षयः) विशाल घर और (साधुः शेषः)[2] साधु पुत्र (आ एतु) प्राप्त हो।

**अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।**
**अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥**[3]

*ऋषिः वसूयवः आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(अग्निः) यज्ञाग्नि (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमान को (तुविश्रवस्तमं) अतिशय यशस्वी, (तुविब्रह्माणं) बहुत ज्ञानी, (उत्तमं) उत्तम, (अतूर्तं) शत्रुओं से अहिंसित, (श्रावयत्पतिम्) गृहपति की कीर्ति फैलानेवाला (पुत्रं) पुत्र (ददाति) प्रदान करता है।

**अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह यो युधा नृभिः।**
**अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम्॥**[4]

*ऋषिः वसूयवः आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(अग्निः) यज्ञाग्नि (सत्पतिम्)[5] सज्जनों का पालक पुत्र (ददाति) प्रदान करता है, (यः) जो पुत्र (युधा) युद्ध करके (नृभिः) वीर परिजनों की सहायता से (ससाह) शत्रुओं को परास्त कर देता है। (अग्निः) यज्ञाग्नि (रघुष्यदं) फुर्तीले वेगवाला, (जेतारं) विजेता, (अपराजितं) अपराजित (अत्यं) घोड़ा (ददाति) देता है।

---

१. नहुषः=मनुष्य (निघं० २.३)
२. शेषः=सन्तान (निघं० २.२)। शेषः इत्यपत्यनाम, शिष्यते प्रयतः (निरु० ३.२)।
३. ऋग्० ५.२५.५
४. ऋग्० ५.२५.६
५. यः पुत्रः युधा युद्धेन नृभिः परिजनैः ससाह शत्रून् अभिभवति, सत्पतिं सतां पालयितारं तथाविधं पुत्रम् अग्निर्ददाति'—सायण।

उद्देनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सं सृज प्रजयां च बहुं कृधि॥[1]

*ऋषिः अप्रतिरथः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।*

(घृतेन आहुत) हे घृत से आहुत (अग्ने) यज्ञाग्नि, (एनं) इस यजमान को (उत्तरां) अत्यन्त उत्कृष्ट (उत् नय) उन्नति प्राप्त करा, (रायस्पोषेण) ऐश्वर्य की पुष्टि से (संसृज) संयुक्त कर, (प्रजया च) और सन्तान से (बहुं कृधि) समृद्ध कर।

अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्।
यस्य त्रसन्ति शवसः संचक्षि शत्रवो भिया॥[2]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(अग्निः) यज्ञाग्नि (अप्साम्) कर्मसेवी, (ऋतीषहं) शत्रुओं का पराभव करनेवाला, (सत्पतिं) सज्जनों का रक्षक, (वीरं) वीर पुत्र (ददाति) प्रदान करता है, (यस्य शवसः संचक्षि) जिसके बल के दीख जाने पर (शत्रवः) शत्रुगण (भिया) भय से (त्रसन्ति) संत्रस्त हो जाते हैं।[3]

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमावरः॥[4]

*ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः। छन्दः ककुबुष्णिक्।*

*(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यस्य) जिस यजमान की (सख्यम्) मित्रता को तू (आवरः) वर लेता है (सः) वह (तव) तेरी (सुवीराभिः)[5] श्रेष्ठ वीर पुत्रों को प्रदान*

---

१. यजु० १७.५०
२. ऋग् ६.१४.४
३. 'अयम् अग्निः वीरं पुत्रं ददाति स्तोतृभ्यः प्रयच्छति। कीदृशं पुत्रम्? अप्साम् अपाम् आप्तव्यानां कर्मणां सनितारं संभक्तारम्, ऋतीषहम् ऋतीनाम् अरातीनां सोढारम् अभिभवितारं, सत्पतिं सतां कर्मणां पालयितारम्।'—सायण।
४. ऋग्० ८.१९.३०
५. 'सुवीराभिः। शोभना वीराः पुत्रादयो यासु तास्तथोक्ताः।'—सायण। बहुव्रीहौ सोरुत्तरो वीरशब्दः 'वीरवीर्यौ च' पा० ६.२.१२० इत्याद्युदात्तः।

*करनेवाली (वाजभर्मभिः) धन-धान्यों और बलों का भरण-पोषण करनेवाली (ऊतिभिः) रक्षाओं से (प्र तिरते[१]) वृद्धि प्राप्त करता है।*

**प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत्।**
**स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्॥[२]**

*ऋषिः काण्वः सोभरिः। देवता अग्निः। छन्दः बृहती।*

(वसो अग्ने) हे निवासक यज्ञाग्नि, (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते) तुझे (दाशत्)[३] हवि प्रदान करता है, तथा (यम्) जिसे तू (राये) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए (निनीषसि) आगे ले जाना चाहता है, (सः) वह मनुष्य (उक्थशंसिनम्) वेदमन्त्रों का शंसन करनेवाले और (त्मना)[४] स्वयं (सहस्रपोषिणम्) सहस्रों का पोषण करनेवाले, दानी (वीरं) वीर पुत्र को (धत्ते) प्राप्त करता है।

**अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।**
**वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्॥[५]**

*ऋषिः विदर्भिः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (ते आस्ये) तेरे ज्वालारूप मुख में (हविः अहावि) हवि का होम किया गया है, (स्रुचि इव घृतम्) जैसे स्रुवा अर्थात् यज्ञिय चमस में घृत तथा (चम्वि इव सोमः) चमू अर्थात् कटोरे में सोमरस डाला जाता है। तू (अस्मे) हमें (वाजसनिं) अन्न-प्रदाता, (सुवीरं) अतिशय वीर, (प्रशस्तं) प्रशस्त, (यशसं) कीर्तिमान्, (बृहन्तं) विशाल मन वाला (रयिम्) पुत्र (धेहि) प्रदान कर।

---

१. प्र पूर्वस्तिरतिर्वर्द्धनार्थः। द्र० निरु० १२.३७
२. ऋग् ८.१०३.४
३. दाशृ दाने। लेट्।
४. त्मना=आत्मना। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' पा० ६.४.१४१ से आ का लोप।
५. यजु० २०.७९

## १३. पुत्रप्राप्ति की हवि

अग्निहोत्र में किन ओषधियों की आहुति देने से पुत्र प्राप्त हो सकता है, इसका संकेत अथर्ववेद में मिलता है। वहाँ लिखा है कि शमी वृक्ष के ऊपर पीपल उग आया हो, तो उस पीपल के प्रयोग से पुत्र उत्पन्न होगा। उस पीपल के छाल, पत्ते, जड़, फल आदि का काढ़ा बनाकर पति-पत्नी द्वारा सेवन किया जा सकता है और उसी पीपल की समिधाओं से तथा पत्ते, फल आदि की सामग्री से हवन करना भी उपयोगी हो सकता है। अपामार्ग ओषधि भी अनपत्यता (सन्तान के अभाव) को दूर करनेवाली कही गई है। इस विषय में वैद्यों को और अधिक विचार एवं परीक्षण करने चाहिएँ। मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं।

**शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्।**
**तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥**[1]

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता रेतः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(शमीम्) शमी वृक्ष के ऊपर (अश्वत्थः) पीपल (आरूढः) उग आया हो (तत्र) उससे (पुंसुवनं) पुंसवन, पुत्रोत्पत्ति (कृतम्) की जाती है। (तत्) उस पीपल का प्रयोग (वै) निश्चय ही (पुत्रस्य) पुत्र का (वेदनं) प्राप्त करानेवाला है। (तत्) उसे, उसके रस आदि को तथा हवन से उठी हुई उसकी धूनी को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आ भरामसि) पहुँचाते हैं।

संस्कारविधि में पुंसवन संस्कार के प्रमाणभाग में यह मन्त्र सूक्त के शेष दो मन्त्रों सहित दिया गया है। वहाँ गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में वट वृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री को दक्षिण नासापुट में सुँघाने और गिलोय वा ब्राह्मी ओषधी खिलाने का वर्णन है। अपामार्ग का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

**क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।**
**अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥**[2]

---

१. अथर्व० ६.११.१
२. अथर्व० ४.१७.६

*ऋषिः शुक्रः। देवता अपामार्गो वनस्पतिः। छन्दः अनुष्टुप्।*

(क्षुधामारम्) भूख मर जाना, (तृष्णामारम्) प्यास मर जाना, (अगोताम्) स्त्री का बाँझ हो जाना, (अनपत्यताम्) पुरुषदोष से सन्तान न होना (तत् सर्वम्) इस सबको (अपामार्ग) हे अपामार्ग ओषधी (त्वया) तेरे द्वारा (वयम्) हम (अपमृज्महे) दूर कर देते हैं।

अपामार्ग की जड़ आदि के सेवन से व अग्निहोत्र में हवि देने से सन्तान प्राप्त हो सकती है, यह इससे सूचित होता है।

## १४. अग्निहोत्र के अन्य लाभ

### *(१) अन्न, धन, बल, विज्ञान, विजय, उत्कर्ष*

**त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः।**
**प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात्॥**[1]

*ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (दाश्वान्) तुझमें हवि अर्पित करनेवाला यजमान (प्र अस्थात्) उत्तम स्थिति को पा लेता है। वह (त्वोतः) तुझसे रक्षित होकर (वाजी)[2] अन्न, धन, बल, वेग, विज्ञान, विजय आदि से युक्त तथा (अह्रयः)[3] अलज्जित होता हुआ (पूर्वस्मात्) पूर्व की अपेक्षा (अपरः) उन्नत हो जाता है।

### *(२) दीर्घायुष्य*

**उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्।**
**अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे॥**[4]

*ऋषिः ब्रह्मा। देवता आयुः (अग्निः)। छन्दः अनुष्टुप्।*

---

१. ऋग् १.७४.८
२. वाज=अन्न, बल (निघं० २.७, २.९)। वाजं वेगं, विज्ञानम् अन्नं वा, संग्रामविजयम्, धनम्, इति क्रमशः यजु० ४.३१., ऋग् ७.४२.६, यजु०, १८.७४, ऋग् ६.५४.५ भाष्ये दयानन्दः।
३. जिह्रेति इति ह्रयः, न ह्रयः अह्रयः। ह्री लज्जायाम्।
४. अथर्व० ७.३२.१

हम (प्रियं) प्रिय (पनिप्नतं)[१] लेन-देन करनेवाले अर्थात् आहुति लेकर आरोग्य आदि का दान करनेवाले (युवानं) तरुण, (आहुतीवृधम्), आहुति को बढ़ानेवाले अर्थात् रूपान्तर करके चारों ओर फैलानेवाले यज्ञाग्नि के (उप) समीप (नमः) हविष्यान्न को एवं श्रद्धाभाव को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (अगन्म) पहुँचते हैं, अर्थात् अग्निहोत्र करते हैं। वह यज्ञाग्नि (मे आयुः) मेरी आयु को (दीर्घं) लम्बा (कृणोतु) करे।

**अग्नीषोमा य आहुतिं यो वां दाशाद्धविष्कृतिम्।**
**स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत्॥**[२]

*ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्नीषोमौ।*
*छन्दः विराड् अनुष्टुप्।*

(अग्नीषोमा) हे अग्नि और वायु[३] (यः) जो (युवाम्) तुम्हारे लिए (आहुतिम्) घृताहुति को, और (हविष्कृतिम्) अन्य हवियों के दान को (दाशात्) देता है, (सः) वह यजमान (प्रजया) सन्तानसहित (सुवीर्यम्) सुवीरता से युक्त (विश्वम् आयुः) संपूर्ण आयु (व्यश्नवत्) प्राप्त करता है।[४]

### (३) सफलता, निवास, सुवीर्य, वृद्धि, पापमुक्ति

**यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।**
**स तूताव नैनमश्नोत्यंहुतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥**[५]

*ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यस्मै) जिसके लिए (त्वम् आयजसे) तू यज्ञ को निष्पन्न करता है (स साधति) वह सफल होता है, (अनर्वा) शत्रुओं से आक्रान्त न होता हुआ

---

१. पण व्यवहारे स्तुतौ च, पन च। इत्यस्माद् यङ्लुगन्ताच्छतरि छान्दसी रूपसिद्धिः—सायण।
२. ऋग्० १.९३.३
३. यो ऽयं वायुः पवत ऽ एष सोमः। श० ब्रा० ७.३.१.१
४. यह मन्त्रार्थ दयानन्दभाष्य के आधार पर है।
५. ऋग्० १.९४.२

(क्षेति) निवास प्राप्त करता है, (सुवीर्यं दधते) उत्तम बल को धारण करता है। (स तूताव) वह बढ़ता है, (एनम् अंहः न अश्नोति) इसे पाप प्राप्त नहीं करता। अतः हे यज्ञाग्नि, (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं मा रिषाम) हम हिंसित न हों।

### (४) पराक्रम, मोक्ष, दिव्य गुण

**अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान्त्सनोति वाजममृताय भूषन्। स नो देवाँ एह वहा पुरुक्षो ॥**[1]

*ऋषिः वसूयव आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः विराट्।*

(विद्वान् अग्निः) विद्वान् के समान यज्ञाग्नि (वीर्याणि) पराक्रमों को (सनोति) प्रदान करता है, (भूषन्) यज्ञवेदि को अलंकृत करता हुआ वह यज्ञाग्नि (अमृताय) मोक्ष की प्राप्ति के लिए (वाजं) सामर्थ्य को (सनोति) प्रदान करता है। (पुरुक्षो)[2] हे बहुविध हविष्यान्नों वाले अथवा अनेक गुणों के निवास-स्थल यज्ञाग्नि, (सः) वह तू (इह) यहाँ (नः) हमारे लिए (देवान्) दिव्य गुणों को (आवह) प्राप्त करा।

### (५) पालन, पाप से रक्षा

**यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया। भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य ॥**[3]

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो मनुष्य (सिष्विदानः)[4] पसीने से तर-बतर होता हुआ भी (ते) तेरे लिए (इध्मं) समिधाओं के भार को (जभरत्)[5] लाता है, और (त्वाया) तेरी कामना से (मूर्धानं वा ततपते) अपने सिर को गर्मी से

---

१. ऋग् ३.२५.२
२. 'पुरुक्षो पुरोडाशादिबहुविधान्नोपेत'—सायण। पुरु=बहु (निघं० ३.१), क्षु=अन्न (निघं० २.७)। यद्वा, पुरून् बहून् गुणान् क्षाययति निवासयतीति पुरुक्षुः। क्षि निवासगत्योः।
३. ऋग् ४.२.६
४. सिष्विदानः स्विद्यद्गात्रः। ष्विदा गात्रप्रक्षरणे।
५. हृञ् हरणे। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' वार्तिक से ह को भ।

संतप्त करता है, (तस्य) उसका तू (स्वतवान्)[१] समृद्ध (पायुः) पालनकर्ता (भुवः) हो जाता है। उसकी तू (सीम्) अवश्य (विश्वस्मात् अघायतः)[२] सब पापेच्छुओं से (उरुष्य) रक्षा कर।

## ( ६ ) पापनिवारण, ऐश्वर्यप्राप्ति

**यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात् प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्।**
**अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्॥[३]**
**यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद् दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक्।**
**न स राया शशमानो वि योषन्नैनमंहः परि वरदघायोः॥[४]**

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

हे यज्ञाग्नि, (यः त्वा) जो तेरा (दोषा) सायंकाल में और (यः उषसि) जो उषाकाल में (प्रशंसात्) वेदमन्त्रों से गुणगान करता है, (वा) और जो (हविष्मान्) हवियुक्त होकर (त्वा) तुझे (प्रियं) हवियों से तृप्त (कृणवते) करता है, (तम् दाश्वांसम्) उस अग्निहोत्री को (स्वे दमे हेम्यावान् अश्वः न) अपने अश्वगृह में घोड़ा जैसे सुनहरी काठी से सुसज्जित होता है, वैसे ही अपने यज्ञगृह में स्वर्णिम ज्वालाओं से युक्त तू (अंहसः) पाप एवं रोगादि से (पीपरः) पार करता है॥

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो (अमृताय तुभ्यम्) तुझ अविनश्वर के लिए (दाशत्) हवि प्रदान करता है, (यतस्रुक्) यज्ञिय चमस को नियन्त्रित करता हुआ (त्वे) तेरे प्रति (दुवः कृणवते) परिचर्या करता है, (सः) वह (शशमानः)[५]

---

१. स्वतवान् स्वेन प्रवृद्धः—दयानन्द। स्वोपपदात् तुधातोरौणादिक आनि प्रत्ययः। तु गतिवृद्धिहिंसासु, सौत्रो धातुः।
२. यः परस्य अघमिच्छति ततः। अघ+क्यच्+शतृ। छन्दसि परेच्छायां क्यच्, 'अश्वाघस्यात्' पा० ७.४.३७ इत्यात्वम्।
३. ऋग्० ४.२.८
४. ऋग् ४.२.९
५. शशमानः शंसमानः (निरु० ६.८)।

मन्त्रपाठ करता हुआ (राया) ऐश्वर्य से (न वियोषत्) पृथक् नहीं होता, (एनम्) इसे (अघायोः) पापेच्छु का (अंहः) पाप (न परिवरत्) नहीं घेरता॥

### (७) पुष्टि, शत्रुविनाश, ऐश्वर्य

**इध्मं यस्ते जभरच्छश्रमाणो महो अग्ने अनीकमा सपर्यन्।**
**स इधानः प्रति दोषामुषासं पुष्यन् रयिं सचते घ्नन्नमित्रान्॥**[1]

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो (शश्रमाणः) निरन्तर श्रम करता हुआ और (महः अनीकं) तेरे महान् तेज की (आ सपर्यन्) पूजा करता हुआ (ते इध्मं जभरत्) तेरे लिए समिधा लाता है, (सः) वह (प्रति दोषाम् उषासम्) प्रति सायं और प्रातः (इधानः) तुझे प्रज्वलित करता हुआ (पुष्यन्) प्रजा, पशु आदि से पुष्ट होता हुआ (अमित्रान् घ्नन्) रोगादि एवं काम, क्रोध, आलस्य आदि शत्रुओं की हिंसा करता हुआ (रयिं सचते) ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

### (८) मायाध्वंस, राक्षस-विनाश

**वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।**
**प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥**[2]

*ऋषिः वृशो जानः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

(अग्निः) यज्ञाग्नि (बृहता ज्योतिषा) विस्तीर्ण ज्योति से (वि भाति) विभासित होता है, (महित्वा) अपनी महिमा से (विश्वानि) सबको (आविः कृणुते) प्रकाशित कर देता है। (दुरेवाः) दुष्ट चालवाली (अदेवीः मायाः) अदिव्य मायाओं को (प्र सहते) परास्त कर देता है, (रक्षसे विनिक्षे) रोगरूप या कामक्रोधादिरूप राक्षस के विनाश के लिए (शृङ्गे) यज्ञ-धूम एवं यज्ञ-ज्वालारूपी सींगों को (शिशीते)[3] तीक्ष्ण करता है।

---

१. ऋग्० ४.१२.२
२. ऋग्० ५.२.९
३. शिशीते श्यति तनूकरोति। शो तनूकरणे इत्यस्माल्लटि विकरणव्यत्ययेन श्यनः स्थाने श्लुः आत्मनेपदं च।

### ( ९ ) धन, बल, शत्रु से रक्षा

जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आ दृळ्हां पुरं विविशुः ॥[1]

*ऋषिः वव्रिः आत्रेयः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् गायत्री।*

जो (वि चितयन्तः) समझदार लोग (जुहुरे)[2] अग्निहोत्र करते हैं, वे (अनिमिषं) निरन्तर (नृम्णं पान्ति) हविरूप धन की रक्षा करते हैं और (दृढां पुरं) दृढ़ यज्ञपुरी में (आ विविशुः) प्रवेश करते हैं।

### ( १० ) पुत्र-पौत्रों से युक्त घर

समिधा यस्त आहुतिं निशितिं मर्त्यो नशत्।
वयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम् ॥[3]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः।*
*छन्दः निचृद् अनुष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (समिधा) समिधा के द्वारा (यः मर्त्यः) जो मनुष्य (ते निशितम्[4] आहुतिं) तेरे लिए मन्त्र-संस्कृत आहुति को (नशत्)[5] अर्पित करता है, (सः) वह (वयावन्तं)[6] पुत्र-पौत्रादिकों की शाखा-प्रशाखाओं से युक्त (शतायुषं) सौ वर्ष की आयु देनेवाले (क्षयम्) घर को (पुष्यति) समृद्ध करता है।

### ( ११ ) अकीर्ति, पाप और दर्प का नाश

ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ॥[7]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत्त्रिष्टुप्।*

---

१. ऋग्० ५.१९.२
२. जुहुरे विचितयन्तः जुह्विरे विचेतयमानाः। निरु० ४.१९
३. ऋग्० ६.२.५
४. 'निशितिं निशितां तनूकृतां मन्त्रसंस्कृताम्'—सायण। नि+शो तनूकरणे।
५. नशतिर्व्याप्तिकर्मा।
६. वयाः शाखाः पुत्रपौत्रादिलक्षणाः। 'वयाः शाखाः वेतेः वातायना भवन्ति'- निरु० (१.४)।
७. ऋग्० ६.३.२

जो यजमान (यज्ञेभिः) यज्ञों से (ईजे) यजन करता है, (शमीभिः) यथोचित कर्मों से (शशमे) विघ्नों का शमन करता है (ऋधद्वाराय) समृद्ध वरों वाले (अग्नये) यज्ञाग्नि के लिए (ददाश) हवि देता है, (तं मर्तं) उस मनुष्य को (एव चन) कभी भी (यशसाम्) कीर्तियों की (अजुष्टिः) अप्राप्ति (न नशते) नहीं व्याप्त करती, (न अंहः) न ही पाप और (न प्रदृप्तिः) न ही महादर्प (नशते) व्याप्त करता है।

### (१२) धन, तेज, यश

**यस्ते॑ य॒ज्ञेन॑ स॒मिधा॒ य उ॒क्थैर॒र्केभिः॑ सूनो सह॒सो॒ ददा॑शत्।**
**स मर्त्ये॑ष्वमृत॒ प्रचे॑ता रा॒या द्यु॒म्नेन॒ श्रव॑सा॒ वि भा॑ति॥**[1]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः।*
छन्दः *निचृत् त्रिष्टुप्।*

(सहसः सूनो) हे बल के पुत्र यज्ञाग्नि, (यः ते) जो तुझे (यज्ञेन) यज्ञ से, (यः) जो (समिधा) समिधा से, (उक्थैः) वेदमन्त्रों से और (अर्केभिः) अर्चनीय स्तोत्रों से (ददाशत्) हव्य प्रदान करता है (सः) वह (अमृत) हे अमर यज्ञाग्नि, (मर्त्येषु) मनुष्यों में (प्रचेताः) प्रकृष्ट चित्तवाला होकर (राया) धन से, (द्युम्नेन) तेज से और (श्रवसा) यश से (विभाति) विशेष रूप से भासमान होता है।

### (१३) बल, शत्रुपराजय, ऐश्वर्य

**त्वद्विप्रो॑ जायते वा॒ज्य॑ग्ने॒ त्वद् वी॒रासो॑ अभिमाति॒षाहः॑।**
**वैश्वा॑न॒र त्वम॒स्मासु॑ धेहि॒ वसू॑नि राजन्त्स्पृह॒याय्या॑णि॥**[2]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता वैश्वानरः।*
छन्दः *निचृत् पङ्क्तिः।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वत्) तुझसे (विप्रः) मेधावी यजमान (वाजी जायते) बलवान् हो जाता है, (त्वत्) तुझसे (वीरासः) वीर लोग (अभिमातिषाहः) गर्वीले शत्रुओं के

---

१. ऋग्० ६.५.५
२. ऋग्० ६.७.३

पराजेता बन जाते हैं। (राजन् वैश्वानर) हे यज्ञकुण्ड में देदीप्यमान यज्ञाग्नि, (त्वम् अस्मासु) तू हमें (स्पृहयाय्याणि वसूनि) स्पृहणीय ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर।

### *(१४) यश, गोधन*

**पीपाय स श्रवसा मर्त्येषु यो अग्नये ददाश विप्र उक्थैः।**
**चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्रशोचिर्व्रजस्य साता गोमतो दधाति॥**[1]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

(यः विप्रः) जो मेधावी यजमान (उक्थैः) मन्त्रोच्चारण के साथ (अग्नये) यज्ञाग्नि को (ददाश) हवि प्रदान करता है, (सः) वह (मर्त्येषु) मनुष्यों के मध्य में (श्रवसा) यश से (पीपाय) समृद्ध होता है। (तम्) उसे (चित्रशोचिः) चित्र-विचित्र ज्वालाओं वाली यज्ञाग्नि (चित्राभिः ऊतिभिः) अद्‌भुत रक्षाओं के साथ (गोमतः व्रजस्य) गौओं से युक्त गोष्ठ के (साता[2] दधाति) दान का पात्र बनाती है।

### *(१५) गोधन की प्राप्ति और रक्षा*

**इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वं मुषायति।**
**भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्॥**
**न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।**
**देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥**
**न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।**
**उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥**[3]

---

१. ऋग्० ६.१०.३
२. साता सातौ संभजने। षण सम्भक्तौ, 'ऊतियूतिजूतिसाति' पा० ३.३.९७ इत्यनेन निपातितः। 'सुपां सुलुग्' पा० ७.१.३९ इति सप्तम्यैकवचनस्य डादेशः।
३. ऋग् ६.२८.२-४

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता गावः, २ इन्द्रो वा, ३, ४ गावः । छन्दः जगती ।*

(इन्द्रः) परमेश्वर या राजा (यज्वने) यज्ञ करनेवाले को (पृणते च) और अग्नि में हवि प्रदान करनेवाले को (शिक्षति)[१] अभीष्ट गोधन देता है, (उप ददाति इत्) निश्चय ही समीप आकर देता है, (स्वं) उसके गोधन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता। (भूयः भूयः) अधिकाधिक (अस्य रयिम्) इसके गोधन को (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ ही (देवयुम्) उस देवयज्ञ करनेवाले को (अभिन्ने खिल्ये) अभेद्य सुरक्षित स्थान में (निदधाति) निवास कराता है॥

(याभिः) जिन गौओं से अर्थात् उनसे प्राप्त दुग्ध-घृतादि से (गोपतिः) गोस्वामी (यजते) यज्ञ करता है (ददाति च) और दान करता है, (ताभिः सह) उनके साथ वह (ज्योक्) चिरकाल तक (सचते) संयुक्त रहता है। (ताः) उसकी वे गौएँ (न नशन्ति) न नष्ट होती हैं, (न तस्करः दभाति) न चोर उन्हें बलपूर्वक हरता है, (न आसां) न इन्हें (आमित्रः व्यथिः) शत्रु का शस्त्र (आ दधर्षति) आक्रान्त करता है॥

उस यज्ञकर्ता की (ताः) उन गौओं को (रेणुककाटः) काट-काटकर टुकड़े करनेवाला (अर्वा[२]) हिंसक प्राणी (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता है, (न ताः) न वे गौएँ (संस्कृतत्रम्[३] उपयन्ति) वधालय में जाती हैं। अपि तु (तस्य यज्वनः मर्तस्य) उस यज्ञशील मनुष्य की (ताः गावः) वे गौएँ (अभयं) निर्भयतापूर्वक (उरुगायं) खुले चरागाहों में (विचरन्ति) विचरती हैं॥

---

१. शिक्षति=ददाति (निघं० ३.२०)।
२. अर्व हिंसायाम्।
३. संस्क्रियन्ते विशस्यन्ते पशवः अत्र इति संस्कृतत्रं वधालयः।

### ( १६ ) रोगों और पापों से मुक्ति

**सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात्।**
**सुजातासः परि चरन्ति वीराः ॥[1]**

*ऋषिः वसिष्ठः। देवता अग्निः।*

*छन्दः एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री।*

(सः इत् अग्निः) यज्ञाग्नि वही है (यः) जो (समेद्धारं) समिद्ध करनेवाले यजमान को (वनुष्यतः) हिंसक रोगादि से (निपाति) बचाता है और उसकी (अंहसः) पाप से (उरुष्यात्) रक्षा करता है और जिसकी (सुजातासः) शुभ जन्म पानेवाले (वीराः) वीरजन (परिचरन्ति) अग्निहोत्र द्वारा सेवा करते हैं।

### ( १७ ) घोड़े, यश, पापमुक्ति

**यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।**
**यो नमसा स्वध्वरः ॥**
**तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।**
**न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत्॥[2]**

*ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः।*

*छन्दः ककुबुष्णिक्, निचृत् पङ्क्तिः।*

(यः मर्तः) जो मनुष्य (समिधा) पलाश आदि की समिधा द्वारा (यः आहुती[3]) जो मनुष्य घृत आदि की आहुति द्वारा (यः वेदेन) जो मनुष्य वेदमन्त्र द्वारा, (यः स्वध्वरः) और जो शोभन यज्ञ करनेवाला मनुष्य (नमसा[4]) चरु पुरोडाश आदि अन्न द्वारा अथवा श्रद्धा के द्वारा (अग्नये) यज्ञाग्नि को (ददाश) हवि अर्पित करता है, (तस्य इत्) उसको निश्चय ही (आशवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (रंहयन्ते) वेगपूर्वक

---

१. ऋग्० ७.१.१५
२. ऋग्० ८.१९.५, ६
३. आहुती=आहुत्या। 'सुपां सुलुग्' पा० ७.१.३९ से पूर्वसवर्णदीर्घः।
४. नमः=अन्न (निघं० २.७)।

ले जाते हैं, (तस्य) उसका (द्युम्नितमं) अतिशय देदीप्यमान (यशः) यश होता है, (तम्) उसे (कुतश्चन) कहीं से (न देवकृतम् अंहः) न इन्द्रियजन्य पाप और (न मर्त्यकृतम् अंहः) न ही मनुष्यजन्य पाप (नशत्) प्राप्त होता है।

***(१८) धन, पुत्र, विजय, तेज, बुद्धि और यश***

**यस्य त्वमूर्ध्वो अध्वराय तिष्ठसि क्षयद्वीरः स साधते।**
**सो अर्वद्भिः सनिता सः विपन्युभिः स शूरैः सनिता कृतम्॥**
**यस्याग्निर्वपुर्गृहे स्तोमं चनो दधीत विश्ववार्यः।**
**हव्या वा वेविषद् विषः॥**
**यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति।**
**गिरा वाजिरशोचिषम्॥**
**समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः।**
**विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्ग इव तारिषत्॥**[1]

*ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः।*

*छन्दः १० सतः पङ्क्तिः, ११, १३ उष्णिक्, १४ पङ्क्तिः।*

(यस्य) जिस यजमान के (अध्वराय) यज्ञ के लिए (त्वम् ऊर्ध्वः तिष्ठसि) तू ऊर्ध्वगामी रहता है (सः) वह (क्षयद्वीरः[2]) निवासयुक्त तथा गतिशील वीर पुत्रों से युक्त होता हुआ (साधते) सफल होता है। (सः अर्वद्भिः) वह घोड़ों से और (सः विपन्युभिः[3]) वह मेधावी स्तुतिशील पुत्रों से (कृतं सनिता) धन, विजय आदि को पा लेता है, (सः शूरैः) वह शूरवीर पुत्रों से (कृतं सनिता) धन, विजय आदि को पा लेता है॥

(यस्य गृहे) जिसके घर में (वपुः) रूपवान्

---

१. ऋग्० ८.१९.१०, ११, १३, १४
२. 'क्षयद्वीरः निवसद्भिः इत्वरैः वा वीरैः पुत्रादिभिरुपेतः'—सायण। क्षि निवासगत्योः।
३. विपन्युः=मेधावी (निघं ३.१५) वि+पण स्तुतौ।

(विश्ववार्यः) सबसे वरणीय (अग्निः) यज्ञाग्नि (स्तोमं) मन्त्र-स्तोम को और (चनः) हविष्यान्न को (दधीत) धारण करता है, (वा) और (विषः[1]) चारों ओर फैले हुए मनुष्यों के पास (हव्या) सुगन्धित हवियों को (वेविषत्[2]) पहुँचाता है, वह मनुष्य सफल होता है॥

(यः) जो मनुष्य (हव्यदातिभिः) हवियों के दान द्वारा (नमोभिः वा) और हविष्यान्नों के द्वारा, (गिरा वा) और वेदमन्त्रों के द्वारा (सुदक्षं) शुभ बल वाले, (अजिरशोचिषम्) क्षिप्रगामी तेज वाले (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (आविवासति) पूजता है; (यः मर्त्यः) जो मनुष्य (निशिती समिधा) गढ़ी-छिली समिधाओं के द्वारा (अदितिं) अखण्डनीय यज्ञाग्नि को (दशत्) पूजित करता है, (सः) वह (सुभगः) सौभाग्यवान् होता हुआ (अस्य धामभिः) इसके तेजों से (धीभिः) बुद्धियों से (द्युम्नैः) और यशों से (विश्वा[3] इत् जनान्) सभी जनों को (अति तारिषत्) अतिक्रान्त कर देता है, (उद्गः इव) जैसे कोई जलों को तैरकर अतिक्रान्त करता है।

### *(११) सद्विचार, सत्कर्म, धन*

**ते घेदग्ने स्वाध्यो३ ये त्वा विप्र निदधिरे नृचक्षसम्।**
**विप्रासो देव सुक्रतुम्॥**
**त इद् वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दिवि।**
**त इद् वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं ये त्वे कामं न्येरिरे॥[4]**

*ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः। छन्दः प्रगाथः।*

हे (विप्र[5]) विशेष रूप से पालन-पोषण करनेवाले (देव) प्रकाशमान और प्रकाशक (अग्ने) यज्ञाग्नि, (ते विप्रासः[6]) वे

---

१. विषः व्याप्तान् मनुष्यान्। विष्लृ व्याप्तौ।
२. वेविषत्। विष्लृ व्याप्तौ। लेट् लकार।
३. विश्वा=विश्वान्। 'सुपां सुलुग्' पा० ७.१.३९ से शस आकारादेशः।
४. ऋग्० ८.१९.१७,१८
५. विशेषेण प्राति पूरयति इति विप्रः। वि+प्रा पूरणे।
६. विप्राः मेधाविनः (निघं० ७.१८)।

मेधावी जन (घ इत्) निश्चय ही (स्वाध्यः) उत्तम विचार और कर्म वाले हो जाते हैं, (ये) जो (नृचक्षसम्) मनुष्यों पर अनुग्रहदृष्टि रखनेवाले (सुक्रतुम्) उत्तम यज्ञसाधक (त्वा) तुझे (निदधिरे) यज्ञवेदि में निहित करते हैं॥

(सुभग) हे शुभ ऐश्वर्योंवाले यज्ञाग्नि, (ये) जो मनुष्य (त्वे) तुझमें (कामं) अपनी अभिलाषा को (न्येरिरे) केन्द्रित करते हैं, (ते इत्) वे ही (वेदिं) यज्ञवेदि को (चक्रिरे) बनाते हैं, (ते आहुतिं चक्रिरे) वे ही आहुति को देते हैं, (ते दिवि सोतुं चक्रिरे) वे ही यज्ञदिवस में सोमसवन करते हैं और (ते इत्) वे ही (वाजेभिः) बलों से (महद् धनं जिग्युः) प्रचुर धन को जीत लेते हैं॥

### *(२०) रोगनिवारक सामर्थ्य*

**यो हुव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना।**
**विवासते वार्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः॥**[1]

*ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः।*
*छन्दः आर्ची स्वराट् पङ्क्तिः।*

(यः) जो (मनुर्हितः) मनुष्यों के लिए हितकर (देवः) प्रकाशमान और प्रकाशक यज्ञाग्नि (सुगन्धिना आसा) सुगन्धित ज्वालारूप मुख से (हव्यानि) हवियों को (ऐरयत) स्थानान्तर में पहुँचाता है, वह (स्वध्वरः) शुभ यज्ञ वाला (होता) होमसाधक (अमर्त्यः देवः) न मारनेवाला कान्तिमान् अग्नि (वार्याणि) रोगनिवारक सामर्थ्यों को (विवासते) प्रदान करता है।

### *(२१) पापनाश और दुग्ध, अन्न, धन, यश एवं पुत्र की प्राप्ति*

**यो यजाति यजात इत्सुनवच्च पचाति च।**
**ब्रह्मेदिन्द्रस्य चाकनत्॥**

---

१. ऋग्० ८.१९.२४

पुरोळाशं यो अस्मै सोमं ररत आशिरम्।
पादित्तं शक्रो अंहसः॥
तस्य द्युमाँ असद्रथो देवजूतः स शूशुवत्।
विश्वा वन्वन्नमित्रिया॥
अस्य प्रजावती गृहेऽसश्चन्ती दिवेदिवे।
इळा धेनुमती दुहे॥
या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्ययाशिरा॥
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते।
न ता वाजेषु वायतः॥
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः।
श्रवो बृहद् विवासतः॥
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः।
उभा हिरण्यपेशसा॥
वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्।
समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः॥[1]

*ऋषिः मनुर्वैवस्वतः। देवता १–४ यज्ञस्तवः यजमानप्रशंसा च, ५–९ दम्पती। छन्दः १–८ गायत्री, ९ अनुष्टुप्।*

(यः) जो यजमान (यजाति) यज्ञ करता है, (यजाते इत्) नित्य नियम से यज्ञ करता रहता है, (सुनवत् च) यज्ञार्थ सोमरस अभिषुत करता है, (पचाति च) और यज्ञार्थ पुरोडाश आदि को पकाता है, तथा (इन्द्रस्य) परमेश्वर के प्रति (ब्रह्मा[2]) मन्त्रपाठ (चाकनत्[3]) पुनः-पुनः करना चाहता है, और (यः) जो मनुष्य (अस्मै) इस यज्ञाग्नि के लिए (पुरोडाशं) पुरोडाश को तथा (आशिरं सोमं) गोदुग्ध से

---

१. ऋग्० ८.३१.१-९
२. ब्रह्मा=ब्रह्माणि वेदमन्त्रानित्यर्थः। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा० ६.१.७० से शि का लोप।
३. पुनः पुनः कामयते। कनी दीप्तिकान्तिगतिषु।

मिश्रित सोमरस को (ररते[1]) प्रदान करता है, (तम्) उसे (शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर (अंहसः) पाप रोग आदि से (पाप इत्) अवश्य ही बचाता है। १, २।

(तस्य) उस यजमान का (रथः) शरीररूप रथ अथवा यात्रा का साधन यान (द्युमान् असत्) देदीप्यमान हो जाता है। (देवजूतः सः) परमेश्वर से प्रेरणाप्राप्त वह (विश्वा अमित्रिया[2]) सब शत्रु-जनित विघ्न आदि को (वन्वन्) नष्ट करता हुआ (शूशुवत्[3]) वृद्धि को प्राप्त करता है। ३।

(अस्य गृहे) इस यजमान के घर में (दिवे दिवे) प्रतिदिन (प्रजावती) बछड़े-बछियों वाली, (असश्चन्ती) प्रतिकूलता प्रकट न करनेवाली (धेनुमती) तृप्ति प्रदान करनेवाली (इडा) गाय (दुहे) दूध देती है। ४।

(देवासः) हे विद्वानो, (या दम्पती) जो पति-पत्नी (समनसा) समान मन वाले होकर (सुनुतः) यज्ञार्थ सोम अभिषुत करते हैं (च) और उस अभिषुत सोम को (नित्यया आशिरा) सदा सुलभ गोदुग्ध से (आधावतः) मिश्रित या परिशुद्ध करते हैं, तथा यज्ञार्थ (प्राशव्यान् प्रति इतः) भक्षण योग्य अन्नादि को प्राप्त करते हैं, एवं (सम्यञ्चा) साथ मिलकर (बर्हिः आशाते) यज्ञ में स्थिर होते हैं (ता[4]) वे दोनों (वाजेषु) संसार-संग्रामों में (न वायतः) कभी हानि प्राप्त नहीं करते। ५, ६।

जो यजमान पति-पत्नी (देवानां न अपि ह्नुतः[5]) देवजनों

---

१. रा दाने धातोर्लटि 'बहुलं छन्दसि' पा० २.४.७६ इति शपः श्लुः, व्यत्ययेनात्मनेपदं च।
२. विश्वा अमित्रिया=विश्वानि अमित्रियाणि। अमित्रेभ्य आगतानि विघ्नादीनि।
३. टुओश्वि गतिवृद्ध्योः।
४. 'या समनसा सम्यञ्चा ता' सर्वत्र 'सुपां सुलुग्' अ ७.१.३९ इति प्रथमाद्विवचनस्य आकारादेशः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्।
५. ह्नुङ् अपनये।

के प्रति देय भाग का अपलाप नहीं करते अर्थात् यज्ञ में स्वाहापूर्वक देवों को उनका हव्य भाग प्रदान करते रहते हैं और (सुमतिं न जुगुक्षतः[१]) उनके प्रति मन्त्रों द्वारा शोभनस्तुति का संवरण नहीं करते, वे (बृहत् श्रवः) महान् अन्न, यश आदि को (विवासतः) प्राप्त करते हैं। ७।

(ता) वे पति-पत्नी (पुत्रिणा) पुत्रवान् और (कुमारिणा) कुमारीवान् होते हुए (विश्वम् आयुः) पूर्ण आयु को (व्यश्नुतः) प्राप्त करते हैं, तथा (उभा) दोनों (हिरण्यपेशसा) सुवर्णादि धनों से रूपवान् होते हैं। ८।

(वीतिहोत्रा) यज्ञ-हवन से प्रीति करनेवाले वे पति-पत्नी (कृतद्वसू) धन का उपार्जन करते हुए, (अमृताय) सुख के लिए (कम्) उस धन को (दशस्यन्ता) दान करते हुए (रोमशम् ऊधः) रोमों वाली गाय के ऊधस् को (संहतः) प्राप्त करते हैं अर्थात् उन्हें विशाल ऊधस् वाली गौएँ प्राप्त होती हैं, तथा (देवेषु) विद्वानों में (दुवः) पूजा-प्रशंसा को (कृणुतः) प्राप्त करते हैं। ९।

## (२२) सहस्र लाभ

**यो अस्मा अन्नं तृष्वा दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।**
**तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम्॥[२]**

*ऋषिः अग्निः सौचीकः, वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजंभरः।*
*देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(यः) जो यजमान (अस्मै) इस यज्ञाग्नि को (तृषु) शीघ्र (अन्नम्) अन्न (आ दधाति) प्रदान करता है, (आज्यैः[३] घृतैः) पिघले हुए घृतों से (जुहोति) इसमें आहुति

---

१. गुहू संवरणे।
२. ऋग्० १०.७९.५
३. आज्य और घृत दोनों शब्द घी के वाचक होते हैं। किन्तु यहाँ 'आज्य शब्द घृत' के विशेषण रूप में प्रयुक्त होने से यौगिक अर्थ को देता है। अजति क्षरति इत्याज्यम्, अज गतिक्षेपणयोः।

देता है, (पुष्यति) और परिपुष्ट करता है, (तस्मै) उसके लिए तू (अक्षभिः[1]) अपनी ज्वालाओं से (सहस्रम्) सहस्रों लाभों को (विचष्टे) विशेष रूप से प्रकाशित करता है। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वम्) तू (विश्वतः) सर्वात्मना (प्रत्यङ् असि) हमारे अनुकूल होता है।

### (२३) रोग एवं कामक्रोधादि का विनाश

**अग्ने हंसि न्यत्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा। स्वे क्षये शुचिव्रत॥[2]**

*ऋषिः उरुक्षयः आमहीयवः। देवता अग्निः रक्षोहा।*
*छन्दः पिपीलकामध्या गायत्री।*

(शुचिव्रत अग्ने) हे पवित्र व्रत वाले यज्ञाग्नि, तू (मर्त्येषु) मनुष्यों के मध्य में (स्वे क्षये) अपने यज्ञगृह में (दीद्यन्) प्रकाशित होता हुआ (अत्रिणं) भक्षक रोगों, रोगकृमियों एवं कामक्रोधादि शत्रुओं को (नि हंसि) निःशेष रूप से नष्ट कर देता है।

### (२४) गृहरक्षा, तेज, बल, वृष्टि, रोगनिरोधक शक्ति

**अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।**
**अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व॥**
**अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः।**
**अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व॥[3]**

*ऋषिः आसुरिः। देवता अग्निः। छन्दः ३९ भुरिग् बृहती,*
*४० निचृद अनुष्टुप्।*

(अयम् अग्निः) यह यज्ञाग्नि (गृहपति) गृहों का रक्षक है, (गार्हपत्यः)[4] गृहस्थों से संप्रयुक्त हुआ यह (प्रजायाः) सन्तान को (वसुवित्तमः) अतिशय आरोग्य-धन प्रदान

---

१. अक्षभिः व्याप्ताभिः ज्वालाभिः। अक्षू व्याप्तौ।
२. ऋग्० १०.११८.१
३. यजु० ३.३९,४०
४. गार्हपत्यः गृहपतिना संयुक्तः। अत्र 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' पा० ४.४.९० इति ञ्यः प्रत्ययः—द०भा०।

करनेवाला है। (गृहपते अग्ने) हे गृहों के रक्षक यज्ञाग्नि, तू (अभि) हमारे प्रति (द्युम्नम्) तेज और (सहः) बल को (आयच्छस्व) ला॥

(अयम् अग्निः) यह यज्ञाग्नि (पुरीष्यः) जल बरसाने वाला (रयिमान्) जवालारूप धन से युक्त तथा (पुष्टिवर्धनः) पुष्टि को बढ़ानेवाला है। (पुरीष्य अग्ने) हे वर्षा करनेवाले यज्ञाग्नि, (अभि) हमारे प्रति (द्युम्नम्) तेज को (अभि) हमारे प्रति, (सहः) रोगादि की प्रतिरोधक शक्ति को (आयच्छस्व) ला॥

### *(२५) कल्याण, भद्रता, प्रशस्ति*

**भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।**
**भद्रा उत प्रशस्तयः॥[1]**

*ऋषिः परमेष्ठी। देवता अग्निः। छन्दः उष्णिक्।*

(आहुतः अग्निः) आहुति दिया हुआ अग्नि (नः भद्रः) हमारे लिए कल्याणकारी होता है, (रातिः भद्राः) उसकी देन भद्र होती है, (सुभग[2]) हे श्रेष्ठ यज्ञाग्नि, (अध्वरः भद्रः) तुझसे सम्पन्न होनेवाला यज्ञ हमारे लिए भद्र होता है (उत) और (प्रशस्तयः भद्राः) तुझसे हमें भद्र प्रशस्तियाँ प्राप्त होती हैं।

### *(२६) मोक्ष, योगसिद्धि*

**स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।**
**यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥[3]**

*ऋषिः विधृतिः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदनुष्टुप्।*

(ये सुविद्वांसः) जो श्रेष्ठ विद्वान् जन (विश्वतोधारं यज्ञं) सर्वतोधार यज्ञ को (वितेनिरे) फैलाते हैं, वे (स्वः

---

१. यजु० १५.३८
२. शोभनो भगो यस्मात् स सुभगः।
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'
३. यजु० १७.६८

यन्तः) मोक्षलोक को जाते हुए (न अपेक्षन्ते) यज्ञ से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते तथा (द्याम् आरोहन्ति) अन्तःप्रकाश को प्राप्त कर लेते हैं और (रोदसी आरोहन्ति) आकाश-पृथिवी में अर्थात् उनमें स्थितलोक-लोकान्तरों में इच्छानुसार चले जाते हैं।[१]

### (२७) इच्छा-सिद्धि

**इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः।**
**तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेः॥**[२]

*ऋषिः गालवः। देवता यज्ञः। छन्दः उष्णिक्।*

(आशीर्दाः) इच्छासिद्धि को देनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (भृगुभिः) तपस्वी परिपक्व वानप्रस्थों द्वारा, और (वसुभिः) निवासक गृहस्थों द्वारा (इष्टः) सम्पन्न किया गया है। (तस्य) उस (प्रीतस्य) संतृप्त तथा (इष्टस्य) सम्पन्न किये गए यज्ञ के (द्रविण) हे फलरूप धन, तू (इह नः आगमेः) यहाँ हमें प्राप्त हो।

### (२८) प्राण एवं इन्द्रियों की शक्ति

**प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा॥**[३]

*ऋषिः प्रजापतिः। देवता प्राणादयाः। छन्दः स्वराडनुष्टुप्।*

(प्राणाय) प्राण के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (अपानाय) अपान के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (व्यानाय) व्यान के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (चक्षुषे) आँख के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (श्रोत्राय) श्रोत्र के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (वाचे) वाणी के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र

---

१. द्रष्टव्य : इस मन्त्र पर द० भा०।
२. यजु० १८.५६
३. यजु० २२.२३

करते हैं, (मन से) मन के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं।

### ( २९ ) दीर्घ जीवन, बुद्धिवृद्धि

**भरा॑मे॒ध्मं कृ॒णवा॑मा ह॒वींषि॑ चि॒तय॑न्तः पर्व॑णा पर्व॑णा व॒यम्।**
**जी॒वात॑वे प्रत॒रं सा॑धया॒ धियोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥**[1]

*ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः । देवता अग्निः । छन्दः जगती ।*

हे यज्ञाग्नि, (पर्वणा पर्वणा) अंग-अंग से (चितयन्तः) प्रबुद्ध होते हुए (वयम्) हम (इध्मं भराम) तेरे लिए समिधा लाएँ, (ते हवींषि कृणवाम) तेरे लिए हवियाँ दें। तू (जीवातवे) दीर्घ एवं सुखी जीवन के लिए (धियः) हमारी बुद्धियों को (प्रतरं साधय) बहुत अधिक बढ़ा। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (वयं तव सख्ये) हम तेरी मित्रता में (मा रिषाम) हिंसित न हों।

### ( ३० ) अन्न, कीर्ति, सन्तान

**उ॒भयं॑ ते॒ न क्षी॑यते वस॒व्यं॑ दि॒वेदि॑वे॒ जाय॑मानस्य दस्म।**
**कृ॒धि क्षु॒मन्तं॑ जरि॒तार॑मग्ने कृ॒धि पतिं॑ स्वप॒त्यस्य॑ रा॒यः ॥**[2]

*ऋषिः गृत्समदः शौनकः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।*

(दस्म)[3] हे दर्शनीय तथा रोगादि के नाशक यज्ञाग्नि, (दिवे दिवे जायमानस्य ते) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाला तेरा (उभयं वसव्यं) आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का फल (न क्षीयते) कभी न्यून नहीं होता। अतः (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू (जरितारं) वेदमन्त्रों द्वारा स्तवन करनेवाले को (क्षुमन्तं)[4] अन्नवान् तथा कीर्तिमान् (कृधि) कर और उसे

---

१. ऋग्० १.९४.४
२. ऋग्० २.९.५
३. दसि दर्शनदंशनयोः।
४. 'अन्नवन्तं कीर्तिमन्तं वा'—सायण।

(स्वपत्यस्य रायः) उत्तम सन्तानयुक्त धन का (पतिं कृधि) स्वामी बना।

### (३१) स्थिर ऐश्वर्य, पुत्र

**यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।**
**आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन् रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान्॥**[1]

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

हे यज्ञाग्नि, (यः) जो मनुष्य (अन्नियते चित् ते) मानो हविष्यान्न की इच्छा करनेवाले तेरे लिए (अन्नं भरात्) हविष्यान्न प्रदान करता है, (मन्द्रं) मदजनक सोम को (निशिषत्)[2] अर्पित करता है, (अतिथिं) अतिथितुल्य तुझे (उदीरत्) यज्ञकुण्ड में ले जाता है और (देवयुः) देवयज्ञ की कामनावाला जो (दुरोणे) अपने घर में (इनधते) तुझे समिद्ध करता है, (तस्मिन्) उसके पास (दास्वान्) सुख प्रदान करनेवाला (ध्रुवः रयिः[3]) स्थिर ऐश्वर्य अथवा वैदिक मार्ग में स्थिर रहनेवाला पुत्र (अस्तु) हो।

### (३२) अमति एवं दुर्मति का विनाश, कल्याण

**आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि।**
**दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति॥**[4]

*ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।*

हे यज्ञाग्नि, तू (यत्) क्योंकि (निपासि) सबकी रक्षा करता है, अतः (अस्मत्) हमसे (अमतिम्) अमति को (आरे) दूर रख, (अंहः) पाप को (आरे) दूर रख, (विश्वां दुर्मतिं) समस्त दुर्बुद्धि को दूर रख। (सहसः सूनो अग्ने) हे बल के पुत्र यज्ञाग्नि, तू (दोषा) रात्रि में (शिवः) सुखकर

---

१. ऋग्० ४.२.७
२. नि+शासु अनुशिष्टौ।
३. 'रयिः पुत्रः ध्रुवः आस्तिक्यबुद्ध्या वैदिकमार्गे निश्चलः अस्तु'—सायण।
४. ऋग्० ४.११.६

होता है। (देवः) प्रकाशमान और प्रकाशक तू (यं चित्) जिसको भी (आ सचसे) आकर प्राप्त होता है (स्वस्ति) उसका कल्याण करता है।

### *(३३) गृहरक्षा, तेजस्विता*

**वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने अकर्म्म समिधा बृहन्तम्। अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस्तेजसा संशिशाधि॥**[1]

*ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(जनानां गृहपते) हे मनुष्यों के घरों के रक्षक यज्ञाग्नि, (वयम् उ त्वा) हम तुझे (समिधा) समिधा के द्वारा (बृहन्तम् अकर्म) प्रवृद्ध करते हैं। (नः गार्हपत्यानि) तेरे द्वारा की जानेवाली हमारी गृह-रक्षाएँ (अस्थूरि[2] सन्तु) अनल्प या परिपूर्ण हों। (तिग्मेन तेजसा) प्रखर तेज से (नः संशिशाधि) हमें तेजस्वी कर।

### *(३४) शरीर-रक्षा, दीर्घायुष्य, वर्चस्, अंगों की परिपूर्णता*

**तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्च्चोदा अग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥**[3]

*ऋषिः अवत्सारः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (तनूपा असि) तू शरीरों का रक्षक है, (मे तन्वं पाहि) मेरे शरीर की रक्षा कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (आयुर्दा असि) तू आयु का दाता है, (मे आयुः देहि) मुझे आयु प्रदान कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू (वर्च्चोदाः

---

१. ऋग्० ६.१५.१९

२. 'एकाश्वयुक्तः शकटः स्थूरिरित्युच्यते, तद्विपरीतो बहुभिरश्वैरुपेतः शकटोऽस्थूरिः। तेन च संपूर्णता लक्ष्यते। अस्थूरीणि पुत्रपशुधनादिभिः संपूर्णानि भवन्तु।'—सायण।

३. यजु० ३.१७

असि) तेज को देनेवाला है, (मे वर्च्चः देहि) मुझे तेज प्रदान कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यत् मे तन्वाः ऊनम्) जो मेरे शरीर का अंग न्यूनतावाला है (तत् मे आपृण) उस मेरे अंग को पूर्णतायुक्त कर।

### *( ३५ ) दीर्घायुष्य, वर्चस्, सन्तान, धन की पुष्टि*

**सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्च्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन।**
**सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्च्चसा सं प्रजया**
**सं रायस्पोषेण ग्मिषीय॥**[1]

*ऋषिः अवत्सारः। देवता अग्निः। छन्दः जगती।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वम्) तू (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य की दीप्ति से (समागथाः) संयुक्त हुआ है, (ऋषीणां स्तुतेन) ऋषिजनों के स्तोत्र से (सम्) संयुक्त हुआ है, (प्रियेण धाम्ना) प्रिय तेज से (सम्) संयुक्त हुआ है। इसी प्रकार (अहम्) मैं (आयुषा) दीर्घायुष्य से (सम्) संयुक्त होऊँ, (वर्चसा) दीप्ति से (सम्) संयुक्त होऊँ, (प्रजया) सन्तान से (सम्) संयुक्त होऊँ, (रायस्यपोषेण) धन की पुष्टि से (सं ग्मिषीय) संयुक्त होऊँ।

### *( ३६ ) आनन्द, रक्षा, प्रबोध*

**अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।**
**रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥**[2]

*ऋषिः आङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (त्वं) तू (सु जागृहि) शोभनप्रकार से जागृत हो, (वयं) हम यजमान लोग, तेरे द्वारा (सु मन्दिषीमहि) शुभ आनन्द प्राप्त करते रहें। तू (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर, और (पुनः) फिर (नः) हमें (प्रबुधे कृधि) प्रबुद्ध करता रह।

---

१. यजु० ३.१९
२. यजु० ४.१४

### ( ३७ ) सच्चरित्र, उत्तम आयु, आनन्दामृत

**परिं माग्ने दुश्चंरिताद् बाधस्वा मा सुचंरिते भज।**
**उदायुंषा स्वायुषोदंस्थाममृताँ अनुं ॥[1]**

*ऋषिः वत्सः। देवता अग्निः। छन्दः पूर्वार्द्धस्य साम्नी बृहती, उत्तरार्द्धस्य साम्नी उष्णिक्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (मा) मुझे (दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (परिबाधस्व) हटा, (मा) मुझे (सुचरिते) सच्चरित्र में (आ भज) संलग्न कर। मैं (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ और (स्वायुषा) स्वस्थ आयु के साथ (अमृतान् अनु) आनन्दामृतों को प्राप्त करने के लिए (उदस्थाम्) उद्यम करूँ।

### ( ३८ ) कल्याण, मोक्ष

**अग्ने प्रेहिं प्रथमो देवयतां चक्षुंर्देवानांमुत मर्त्यानाम्।**
**इयंक्षमाणा भृगुंभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजंमानाः स्वस्ति ॥[2]**

*ऋषिः विधृतिः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, तू (देवयतां) देवयज्ञ करना चाहने वालों का (प्रथमः) श्रेष्ठ मार्गदर्शक तथा (देवानाम्) विद्वानों का (उत मर्त्यानाम्) और जनसाधारण का (चक्षुः) प्रकाशक होता हुआ (प्रेहि) यज्ञ में आ। (इयक्षमाणाः) यज्ञ करने के इच्छुक, अतएव (भृगुभिः सजोषाः) परिपक्व विज्ञानवाले ऋत्विजों से प्रीति करनेवाले (यजमानाः) यजमान (स्वस्ति) कल्याण को तथा (स्वः) मोक्ष को (यन्तु) प्राप्त करें।

### ( ३९ ) प्रजनन शक्ति, स्वास्थ्य आदि

**इदं हुविः प्रजननं मे अस्तु दशंवीरं सर्वंगणं स्वस्तयें।**
**आत्मसनिं प्रजासनिं पशुसनिं लोकसन्यंभयसनिं।**
**अग्निः प्रजां बंहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतों अस्मासुं धत्त ॥[3]**

*ऋषिः वैखानसः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदष्टिः।*

(इदं हविः) यह हवि (मे) मेरे लिए (प्रजननम् अस्तु) प्रजनन-शक्ति देनेवाली हो, (स्वस्तये) कल्याण के लिए

---

१. यजु० ४.२८    २. यजु० १७.६९    ३. यजु० १९.४८

(दशवीरं) दस इन्द्रियरूप या दस प्राणरूप वीरों को स्वस्थ रखनेवाली तथा (सर्वगणं) सब गणों को अर्थात् समाज के सब वर्णाश्रमियों को स्वस्थ रखनेवाली हो। यह हवि (आत्मसनि) आत्मबल को देनेवाली, (प्रजासनि) उत्तम सन्तान को देनेवाली, (पशुसनि) गौ, अश्व आदि पशुओं को बल देनेवाली, (लोकसनि) इहलोक और परलोक को देनेवाली और (अभयसनि) निर्भयता को देनेवाली हो। (अग्निः) यज्ञाग्नि (मे प्रजां) मेरी सन्तान को (बहुलां करोतु) समृद्ध करे। हे यज्ञसंचालक ऋत्विजो, तुम यज्ञ द्वारा (अस्मासु) हममें (अन्नं) अन्न (पयः) दूध और (रेतः) वीर्य (धत्त) प्रदान करो।

***(४०) प्रबोध, ऐश्वर्य, क्षत्यभाव, यश***

**सं चेध्यस्वाग्ने प्र चं बोधयैनमुच्चं तिष्ठ महते सौभंगाय।**
**मा चं रिषदुपसत्ता तें अग्ने ब्रह्माणंस्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥**[1]

*ऋषिः अग्निः। देवता सामिधेन्यः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (सम् इध्यस्व च) तू समिद्ध हो (प्र बोधय च एनम्) और इस यजमान को प्रबुद्ध कर। (महते सौभगाय) महान् ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए (उच्च तिष्ठ) उच्च रह, (च) और (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (ते उपसत्ता) तेरे समीप बैठनेवाला याज्ञिक (मा रिषत्) हिंसा या क्षति को प्राप्त न करे। (ते ब्रह्माणः) तेरे यज्ञ के ब्रह्मा (यशसः सन्तु) यशस्वी हों (मा अन्ये) अन्य अर्थात् यज्ञ न करनेवाले लोग यशस्वी न हों।

## १४. अयाज्ञिक की निन्दा

**किमत्रं दस्रा कृणुथः किमांसाथे जनो यः**
**कश्चिदहंविर्महीयतें।**
**अतिं क्रमिष्टं जुरतं पणेरसुं ज्योतिर्विप्राय कृणुतं वचस्यवें॥**[2]

*ऋषिः अगस्त्यो मैत्रावरुणिः। देवता अश्विनौ। छन्दः जगती।*

---

१. यजु० २७.२ २. ऋग्० १.१८२.३

(दस्रा) हे शत्रु का उपक्षय कर सकनेवाले राजा-प्रजाओ, (अत्र किं कृणुथः) तुम यहाँ क्या कर रहे हो? (किम् आसाथे) क्यों चुपचाप बैठे हो? (यः कश्चित्) जो कोई (अहविः जनः) अग्निहोत्र न करनेवाला मनुष्य (महीयते) पूजा पा रहा है, (अतिक्रमिष्टं) उसका पराभव कर दो, (पणेः) उस कृपण के (असुं) प्राण को (जुरतं) नष्ट कर दो, इसके विपरीत (वचस्यवे विप्राय) यज्ञ में वेदमन्त्रोच्चारण के इच्छुक विद्वान् के लिए (ज्योतिः कृणुतम्) जीवन-प्रकाश उत्पन्न करो।

**किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।**
**आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥[1]**

*ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

हे इन्द्र राजन्, (ते गावः) तेरी दी हुई गौएँ (कीकटेषु) अनार्य प्रदेशों में (कि कृण्वन्ति) क्या करती हैं, क्योंकि वहाँ के निवासी तो (न आशिरं दुह्रे) न यज्ञार्थ दूध को दुहते हैं, (न घर्मं तपन्ति) न यज्ञकुण्ड को प्रदीप्त करते हैं। हे राजन्, (प्रमगन्दस्य)[2] अपने स्वार्थ में ही मग्न रहनेवाले अयाज्ञिक मनुष्य के (वेदः)[3] धन को (नः आ भर) छीनकर हमें प्रदान कर दो, (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन्, (नैचाशाखं)[4] अनूर्ध्वरेता अब्रह्मचारी अयाज्ञिक पुरुष को (नः रन्धय) हमारे वश में कर दो।

---

१. ऋग्० ३.५३.१४
२. यास्क (निरु० ६.३२) ने प्रमगन्द का अर्थ अति ब्याजखोरों के कुल में उत्पन्न पुरुष (अत्यन्तकुसीदिकुलीनः) किया है, जो अपना ही स्वार्थ देखता है। दूसरा अर्थ प्रमदक (प्रमादी) किया है, जो परलोक में विश्वास न कर केवल इहलोक को ही मानता है तथा वैसे ही चारवाक सम्प्रदाय सदृश कर्म करता है।
३. वेदः=धन (निघं० २.१०)।
४. निम्नाभिमुख शाखाओंवाला अनूर्ध्वरेताः अथवा निम्न स्तर का।

**न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरँश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥**[४]

*ऋषिः वसिष्ठः। देवता वैश्वानरः। छन्दः त्रिष्टुप्।*

(अक्रतून्) अकर्मशील, (ग्रथिनः) अज्ञान से बद्ध, (मृध्रवाचः) हिंसक वाणी वाले (पणीन्) कृपण, (अश्रद्धान्) अश्रद्धालु, (अवृधान्) दूसरों को न बढ़ानेवाले, (अयज्ञान्) यज्ञ न करनेवाले (तान् दस्यून्) उन दस्यु लोगों को (अग्निः) अग्रणी राजा (प्र प्र विवाय) अत्यन्त दूर कर देता है। (पूर्वः) वह श्रेष्ठ राजा (अयज्यून्) उन अयाज्ञिकों को (अपरान्) सबसे पीछे (चकार) कर देता है, अर्थात् राष्ट्र में आगे नहीं आने देता, न उच्च पदों पर प्रतिष्ठित करता है।

---

४. ऋग्० ७.६.३

## चतुर्थ अध्याय

# अग्निहोत्र सम्बन्धी विधियों तथा मन्त्रों की व्याख्या

अग्निहोत्र में निम्नलिखित विधियाँ आती हैं, जिनकी व्याख्या हम क्रमशः करेंगे—

१. आचमन
२. अंगस्पर्श
३. अग्न्याधान, अग्निप्रदीपन
४. समिदाधान
५. पाँच घृताहुति
६. जल-प्रोक्षण
७. दो आघार आज्याहुति
८. दो आज्यभागाहुति
९. प्रधान यज्ञ की आहुतियाँ (बारह)
 (क) प्रातःकालीन आहुतियाँ (चार)
 (ख) सायंकालीन आहुतियाँ (चार)
 (ग) प्रातः-सायं दोनों काल की समान आहुतियाँ (आठ)
१०. पूर्णाहुति

## १. आचमन

**विधि**—अपने-अपने जलपात्र से सब लोग जोकि यज्ञ करने बैठे हों, इनसे तीन-तीन आचमन करें अर्थात् एक-एक मन्त्र से एक-एक बार आचमन करें—

**ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। १।** इससे पहला,

**ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा। २।** इससे दूसरा,
**ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा। ३।**[१]
इससे तीसरा।

(ओम्) मैं परमेश्वर को स्मरण करता हूँ। (अमृत) हे अमर परमेश्वर अथवा अमृतस्वरूप जल, तू (उपस्तरणम् असि) नीचे बिछाने की चादर है। (स्वाहा) मैं आचमन द्वारा अपने हृदय में अथवा प्राणाग्नि में तुझे आहुत करता हूँ।

(ओम्) मैं परमेश्वर का स्मरण करता हूँ। (अमृत) हे परमेश्वर अथवा हे अमृतस्वरूप जल, (अपिधानम् असि) तू ओढ़ने की चादर है। (स्वाहा) मैं आचमन द्वारा अपने हृदय में अथवा अपनी प्राणाग्नि में तुझे आहुत करता हूँ।

(ओम्) मैं परमेश्वर को स्मरण करता हूँ। (सत्यं) सत्य और (यशः) यश (श्रीः) बड़ी अमूल्य सम्पत्ति है। (श्रीः) वह सत्य और यश की अमूल्य सम्पत्ति (मयि श्रयताम्) मुझमें स्थित हो। (स्वाहा) यह कैसी उत्तम प्रार्थना है[२] अथवा आचमन द्वारा अपने आत्मा में मैं इस सम्पत्ति को आहुत करता हूँ।[३]

जब हम अपने किसी प्यारे शिशु को शीत आदि से सुरक्षित करना चाहते हैं, तब उसके नीचे सुन्दर गद्दा बिछाते हैं, उसे लिटाकर उसके ऊपर मखमली रजाई उढ़ा देते हैं। नीचे बिछाने के गद्दे, चादर आदि को उपस्तरण कहते हैं और ऊपर उढ़ाने की रजाई, चादर आदि को अपिधान। अमृत के

---

१. तुलना—आश्व० गृह्य० अ०१, कं० २४, सू० १२,२१,२२। वहाँ ओम् और स्वाहा पद नहीं हैं। प्रथम दो मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक प्रपा० १०, अनुवाक ३२, ३५ में भी आए हैं। वहाँ प्रथम मन्त्र से भोजन के आदि में तथा द्वितीय मन्त्र से भोजन के अन्त में आचमन करने का विधान है।
अथ भोजनादावपां प्राशने मन्त्रमाह—अमृतोपस्तरणमसि इति पीयमान हे जल, त्वम् अमृतं विनाशरहितं प्राणदेवताया उपस्तरणमसि—सायण।
२. स्वाहा=सु+आह। स्वाहा इत्येतत् सु आह इति वा (निरु० ८.२०)।
३. स्वाहा=सु+आ+हु। स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरु० ८.२०)।

दो अर्थ हैं—सदा अमर रहनेवाला परमेश्वर और शुद्ध जल। हम जल के एक-एक घूँट से तीन आचमन करते हैं। प्रथम आचमन के घूँट को उपस्तरण (बिछौना) कहा गया है और द्वितीय आचमन के घूँट को अपिधान (ओढ़ने का वस्त्र)। अमृत का अर्थ अमर परमात्मा लें तो वह अमर परमात्मा बिछौना और उढ़ौना होगा। इस बिछौने और उढ़ौने के मध्य में हम किस अमूल्य सम्पत्ति को सुरक्षित करना चाहते हैं, यह तृतीय मन्त्र में बताया गया है। वह अमूल्य सम्पत्ति है सत्य और यश। आचमन के तीसरे घूँट का पान करते हुए हम कहते हैं कि सत्य और यश की अमूल्य सम्पत्ति हमारे अन्दर स्थित हो जाए।

अब देखना यह है कि सत्य और यश की यह अमूल्य सम्पत्ति अमृत अर्थात् परमेश्वर और जल रूप बिछौने एवं उढ़ौने से कैसे सुरक्षित होगी। यदि मनुष्य परमेश्वर को सदा स्मरण रखे, तब निस्सन्देह वह सत्य का मन, वचन और कर्म से पालन करेगा। परिणामतः वह यशस्वी होगा। अतः आलंकारिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि परमात्मारूपी बिछौने और उढ़ौने के मध्य में रखकर हमें सत्य और यश की रक्षा करनी है। अमृत का अर्थ जल लें, जैसाकि जल का आचमन हम कर ही रहे हैं, तो जल भी सत्य और यश की सुरक्षा करनेवाले हैं। जल सत्य के प्रतीक हैं, वेद में जल का नाम ही सत्य है।[१] जल का आचमन करते हुए हम यह भावना जागृत करते हैं कि जैसे पवित्र जल सत्यमय और अपने गुणों के कारण यशस्वी हैं, वैसे ही हम भी सत्यमय और यशस्वी हों। जल का आचमन करते हुए हम सत्यमय और यशस्वी होने का व्रत लेते हैं। शतपथ ब्राह्मण में आचमन का महत्त्व बताते हुए कहा है कि मनुष्य जो असत्य भाषण करता है

---

१. द्रष्टव्य निघं० १.१२।

उसके कारण वह अपवित्र होता है; जल पवित्र है, जलों का आचमन करके वह व्रत ग्रहण करता है कि मैं पवित्र बनूँगा—

**तद् यद् अप उपस्पृशति, अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतो, मेध्या वा आपो, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति। तस्माद् वा अप उपस्पृशति।**[1]

आगे सत्य का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि जनसाधारण असत्य का आचरण करते हैं, किन्तु देवजन सत्याचारी होते हैं। जो मनुष्य सत्य का व्रत ग्रहण कर लेता है, वह मनुष्यकोटि से देवकोटि में आ जाता है—

**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति।**[2]

अग्निहोत्र के प्रारम्भ में जो आचमन द्वारा सत्य और यश को जीवन में लाने का व्रत ग्रहण करते हैं, उसका बड़ा महत्त्व है। वेद ने सत्य और यश की बहुत महिमा गाई है। ऋग्वेद कहता है कि सत्य से ही भूमि टिकी हुई है—**सत्येनोत्तभिता भूमिः**[3]; सत्य की नौकाएँ सुकर्मकर्ता को पार लगा देती हैं—**सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्**[4]; सत्य का रक्षक सुकर्मा मनुष्य किसी से हिंसित नहीं होता—**ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः**[5]; सत्य की जिह्वा प्रिय मधु बरसाती है—**ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्**[6]। अतएव प्रजापति परमेश्वर ने

१. श०ब्रा० १.१.१.१
२. शत० १.१.१.४
३. ऋग्० १०.८५.१
४. ऋग्० ९.७३.१
५. ऋग्० ९.७३.८
६. ऋग्० ९.७५.२

अनृत और सत्य दोनों के रूपों को देखकर यह शिक्षा दी है कि मनुष्य अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा करे—

**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।**
**अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥**[1]

इसीलिए वैदिक स्तोता अपने प्रभु से प्रार्थना करता है कि तू हमें सत्य के मार्ग से ले चल—**ऋतस्य नः पथा नय**[2]। इसीलिए वह सत्य का व्रत ग्रहण करता हुआ कहता है—

**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।**
**इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥**[3]

"हे सबके मार्गदर्शक व्रतपति प्रभु, मैं आज व्रत ग्रहण करूँगा। ऐसी कृपा करो कि उसका मैं पालन कर सकूँ, वह मेरा व्रत सिद्ध और सफल हो। वह व्रत यह है कि मैं आज से असत्य को छोड़कर सत्य को अपनाता हूँ।"

सचमुच सत्य की बड़ी महिमा है। एक कथा प्रसिद्ध है। किसी सेठ का पुत्र बड़ा दुराचारी था। सब अवगुण और कुकर्म उसमें विद्यमान थे। उसके कारण सात्त्विकवृत्ति सेठ का भी अपयश हो रहा था। सेठ अपने पुत्र की करनी से परेशान होकर एक महात्मा की शरण में पहुँचा। महात्मा ने उसके पुत्र से कहा कि भले ही तुम सब कुकर्म करते रहो, किन्तु मेरी एक बात मान लो कि सदा सत्य बोलो। पुत्र ने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर ली। अब जब कभी वह कोई निन्दनीय कर्म करके आता, तब पूछने पर उसे सत्य-सत्य कहना पड़ता। शनैः-शनैः लोकलाज के कारण उसके सब दुर्गुण छूट गए। जब वाणी से सत्य भाषण करने की इतनी महिमा है, तब मन, वचन, कर्म तीनों से सत्य को ग्रहण करना कितना फलदायक होगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

---

१. यजु० १९.७७
२. ऋग्० १०.१३३.६
३. यजु० १.५

आचमन-मन्त्र में सत्य के साथ दूसरी मूल्यवान् वस्तु यश कही गई है। यश वस्तुतः सत्याचरण का ही परिणाम है। जब मनुष्य सत्य को अपना लेगा तब उसके आदर्श व्यक्तित्व से यश की किरणें स्वतः प्रसृत होने लगेंगी। वेद ने यशस्वी जीवन को बहुत ही स्पृहणीय माना है। वेद का स्तोता यशोमय जीवन की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

**यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।**
**एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम॥**
**यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।**
**यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥**[1]

"जैसे सूर्य द्यावापृथिवी में यशस्वी है, जैसे जल ओषधियों में यशस्वी है, वैसे ही सब विद्वानों और सर्वसाधारण में हम यशस्वी हों। जैसे सूर्य यशस्वी है, जैसे अग्नि यशस्वी है, जैसे चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही मैं सब उत्पन्न जड़-चेतन में सबसे अधिक यशस्वी बनूँ।"

आइये, हम भी आचमन करते हुए सत्यमय और यशस्वी होने का व्रत ग्रहण करें।

## २. अंगस्पर्श

आचमन के पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से बाईं हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ से अंगों का स्पर्श करें—

**ओं वाङ्म आस्येऽस्तु।** १। इस मन्त्र से मुख,
**ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु।** २। इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,
**ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु।** ३। इस मन्त्र से दोनों आँखें,
**ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु।** ४। इस मन्त्र से दोनों कान,
**ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु।** ५। इस मन्त्र से दोनों बाहु,

---

१. अथर्व० ६.५८.२,३

ओम् ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु। ६। इस मन्त्र से दोनों जंघा, और ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु। ७।[1]

इससे सब अङ्गों पर जल स्पर्श करके मार्जन करना।

**प्रथम मन्त्र**

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे आस्ये) मेरे मुख में (वाक् अस्तु) प्रशस्त वाणी हो।

अभिप्राय यह है कि आजीवन मुख में वाणी की शक्ति बनी रहे और वह वाणी उत्कृष्ट हो। वाणी के हीन कोटि का होने पर बड़े-बड़े दुष्परिणाम हो सकते हैं। महाभारत का युद्ध "अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं" इस कटु वाणी का ही परिणाम था। इसके विपरीत वाणी शुभ होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। अतएव अथर्ववेद का स्तोता प्रार्थना करता है—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥[2]

अर्थात् जिस वाणी के अदिव्य होने पर बड़े घोर परिणाम सामने आते हैं, वह हमारी वाणी दिव्य होकर ब्रह्म के ध्यान से तथा ज्ञान से प्रभावयुक्त एवं सर्वोत्कृष्ट होकर हमें सुख-शान्ति देनेवाली हो।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्।
मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥[3]

अर्थात् हमारी वाणी दुर्गति से निकलकर सशक्त और

---

१. द्रष्टव्य : पार० गृह्य० १.३.२५ 'आचम्य प्राणान् संमृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति।"
तुलना : तै० आ० ७.७३ "वाङ् म आसन्। नसोः प्राणः। अक्ष्योश्चक्षुः। कर्णयोः श्रोत्रम्। बाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजः। अरिष्टा विश्वान्यङ्गानि तनूः। तनुर्वा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिसीः, इति।"

२. अथर्व० १९.९.३

३. अथर्व० १६.२.१,२

मधुमयी हो। जलों को सम्बोधन कर कहा है कि हे जलो! जैसे तुम मधुर हो, वैसे ही मैं मधुर वाणी बोलूँ।

**जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलंकम्।**
**वाचा वंदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥**[1]

मेरी जिह्वा के अग्र में मधु हो, जिह्वा के मूल में मधु भरा महुए का फूल हो। मैं वाणी से मधुर बोलूँ, मैं शहद के समान हो जाऊँ।

इस प्रकार अंगस्पर्श के प्रथम मन्त्र द्वारा वाणी के आजीवन अविनष्ट, स्थिर, प्रशस्त, प्रभावमयी, बलवती एवं मधुर होने की प्रार्थना की गई है।

## द्वितीय मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे नसोः) मेरे नासिका-छिद्रों में (प्राणः अस्तु) प्राण हो।

प्राण से दो तात्पर्य हैं—घ्राण-शक्ति (सूँघने की क्षमता) बने रहना और नासिका-छिद्रों से प्राणापान के रूप में प्राण का आवागमन अविघ्नित रूप से होते रहना। कई मनुष्यों की सूँघने की शक्ति का ह्रास हो जाता है, उन्हें सुगन्ध या दुर्गन्ध दोनों एक-सी प्रतीत होती हैं, ऐसा न हो। इसी प्रकार नाक की हड्डी या कार्टिलेज बढ़ जाने के कारण प्राणापान के आवागमन में कई व्यक्तियों को कष्ट होता है, ऐसा भी न हो। इसके विपरीत शुद्ध वायु का नासिकाद्वार से अन्दर जाना तथा फेफड़ों की रक्त-शिराओं में से रक्त की मलिनता लेकर शरीर की अशुद्ध वायु का नासिकाद्वार से बाहर निकलना—ये दोनों कार्य अप्रतिहत रूप में निरन्तर होते रहें, जिससे शरीर का स्वास्थ्य बना रहे। अतएव वेद में कहा है—मेरे अन्दर सहस्र प्राणशक्तियाँ आ बसें, "**सहस्रं प्राणा मय्यायतन्ताम्**"[2] मुझे

---

१. अथर्व० १.३४.२,३
२. अथर्व० १७.१.३०

प्राणशक्ति न छोड़े, न ही अपानशक्ति छोड़कर जाए—**"मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्"**[१] हे प्राणापानो, तुम मुझे मत छोड़ो—**प्राणापानौ मा मा हासिष्टम्।**[२]

## तृतीय मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे अक्ष्णोः) मेरे नेत्रों में (चक्षुः अस्तु) दृष्टिशक्ति और भद्र–दृष्टि हो।

हमारी आँखों की ज्योति कभी मन्द न हो, अपितु गरुड़ जैसी तीव्र दृष्टि-शक्ति हमारी आँखों में हो—**सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः।**[३] यदि कभी दृष्टि मन्द हो भी जाए तो सूर्य, जल, वायु आदि की चिकित्सा से हम पुनः तीव्र दृष्टि प्राप्त कर लें—

**चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः।**
**चक्षुर्धाता दधातु नः॥**
**चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः।**
**सं चेदं वि च पश्येम॥**
**सुसन्दृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य।**
**वि पश्येम नृचक्षसः॥**[४]

"प्रातःकालीन प्रकाशक सूर्य (सविता देवः) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। मेघ (पर्वतः) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। वायु (धाता) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। हे परमेश्वर अथवा हे सूर्य! तू हमारे चक्षु को दृष्टिशक्ति प्रदान कर, सब शरीरों (शरीरधारियों) को दृष्टि--शक्ति प्रदान कर, जिससे वे सब पदार्थों को विशिष्ट रूप से देख सकें। हमारी दृष्टि-शक्ति ऐसी हो कि हम वस्तुओं को समष्टि की स्थिति और

---

१. अथर्व० १६.४.३
२. अथर्व० १६.४.५
३. अथर्व० १६.२.५
४. ऋग्० १०.१५८.३-५

व्यष्टि की स्थिति दोनों रूपों में देख सकें। हे सूर्य! जब तू आसानी से दर्शनीय होता है उस समय हम तेरी ओर देखें, सूर्यचिकित्सा करें, जिससे मनुष्यों में विशेषदृष्टिसम्पन्न होकर प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् देखने में समर्थ हों।"

परन्तु अंगस्पर्श के मन्त्र में 'चक्षु' से अभिप्राय केवल दृष्टिशक्ति की तीव्रता ही नहीं है, शुभदृष्टि तथा सबको मित्रताभरी और प्रेमभरी दृष्टि से देखना भी अभिप्रेत है। इसीलिए वेद कहता है कि हम आँखों से भद्र ही देखें—

**"भद्रं पंश्येमाक्षभिर्यजत्राः"**[1]

**दृते दृꣳह मा मित्रस्यं मा चक्षुंषा सर्वांणि भूतानि समींक्षन्ताम्।**
**मित्रस्याहं चक्षुंषा सर्वांणि भूतानि समींक्षे।**
**मित्रस्य चक्षुंषा समींक्षामहे॥**[2]

"हे सर्वदोषविदारक परमेश्वर! मुझे दृढ़ता प्रदान करो। सब प्राणी मुझे मित्र की आँख से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की आँख से देखता हूँ। इस प्रकार हम सब राष्ट्रवासी या विश्व के वासी एक-दूसरे को मित्र की आँख से देखा करें।"

## चतुर्थ मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे कर्णयोः) मेरे कानों में (श्रोत्रम् अस्तु) श्रवण-शक्ति तथा भद्र श्रवण हो।

आजीवन हमारी श्रवण-शक्ति अक्षुण्ण तथा तीव्र रहनी चाहिए। हम श्रवण-शक्ति से सर्वथा वंचित होकर बधिर न हो जाएँ, न ही हमारी श्रवणशक्ति मन्द हो, हमें सुनने के लिए श्रवणयन्त्र न लगाना पड़े। साथ ही कान हमें परमेश्वर की ओर से भद्र श्रवण के लिए ही मिले हैं, अभद्र बातें सुनने के

---

१. ऋग्० १.८९.८
२. यजु० ३६.१८

लिए नहीं। अतः कानों से हम भद्र का ही श्रवण करें—

**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।[1]**

**सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।**
**सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टाम्॥[2]**

"मेरे कान खूब अच्छा सुननेवाले हों, मेरे कान भद्र का श्रवण करनेवाले हों। मैं भद्र स्तोत्र को सुनूँ। तीव्र श्रवणशक्ति और सूक्ष्म श्रवणशक्ति मुझे न छोड़ें।

## पंचम मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे बाह्वोः) मेरी भुजाओं में (बलम् अस्तु) बल हो।[3]

संसार में आत्म-रक्षा के लिए और आततायी शत्रु के विनाश के लिए भुज-बल की आवश्यकता है। अतएव वेद विजय के लिए प्रेरित करता हुआ कहता है—

**प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।**
**उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥[4]**

हे वीरो! आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, वीर प्रभु तुम्हें रक्षा प्रदान करें। तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिससे तुम किसी से पराजित न हो सको।"

## षष्ठ मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर! (मे ऊर्वोः) मेरी पिंडलियों में (ओजः अस्तु) अवष्टम्भ सामर्थ्य[5] अर्थात् शरीर को धारण करने की शक्ति हो।

---

१. ऋग्० १.८९.८ २. अथर्व० १६.२.४,५

३. तुलनीय : बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि॥ ऋग्० ३.५३.१८

४. ऋग्० १०.१०३.१३

५. मेदिनी कोश में ओजस् के दीप्ति, अवष्टम्भ-सामर्थ्य, प्रकाश और बल अर्थ कहे हैं—ओजो दीप्ताववष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि।—मेदिनी ३२.२०

पिंडलियाँ दुर्बल होने पर वे अपने से ऊपर के भारी शरीर को धारण नहीं कर सकतीं, ठीक वैसे ही जैसे भवन के स्तम्भ यदि कमजोर हों तो भवन स्थिर नहीं रह सकता। पिंडलियों को यहाँ पैर से लेकर कटि-सन्धि तक सम्पूर्ण टाँगों का उपलक्षण समझना चाहिए। टाँगें धारक शक्ति से युक्त होंगी, तभी मनुष्य लम्बे मार्ग को तय करना, दौड़ना-भागना, भार उठाना आदि क्रियाओं को कर सकेगा।

### सप्तम मन्त्र

(मे अंगानि) मेरे शरीर के अंग-प्रत्यंग और (तनूः) शरीर (अरिष्टानि) अविनष्ट और अक्षत रहें। वे अंग (मे तन्वा सह) मेरे शरीर के साथ (सन्तु) स्वस्थ रूप में विद्यमान रहें।

शरीर के कतिपय प्रमुख अंगों मुख, नासिका, चक्षु आदि का उल्लेख तथा उनकी शक्तियों के अक्षुण्ण बने रहने की प्रार्थना प्रथम छह मन्त्रों में की जा चुकी है। इस मन्त्र में सामान्य रूप से सभी अंगों का ग्रहण हो जाता है, जिसमें अवशिष्ट अंग भी आ जाते हैं। हमारे शरीर का कोई अंग जन्म से मृत्यु-पर्यन्त हिंसित या क्षतिग्रस्त न हो; हमारे हाथ, पैर, अंगुलियाँ, मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, पृष्ठवंश आदि सब सदा ठीक प्रकार से कार्य करते रहें, यह भावना इस मन्त्र से गृहीत की जाती है। अन्त में कहा है कि जब तक शरीर रहे तब तक सब अंग स्वस्थ बने रहें। ऐसा न हो कि शरीर तो शतायु या सौ से भी अधिक आयु का हो जाए, किन्तु अंग शनैः-शनैः दुर्बल होते जाएँ और वृद्धावस्था में मनुष्य पराश्रित हो जाए। दीर्घ आयु तो वह श्रेष्ठ है, जिसमें अन्त तक सब शरीर अपने अंग-प्रत्यंगों सहित स्वस्थ रहें।

### अंगस्पर्श जल से क्यों?

पवित्र जल से मुख, नासिका, चक्षु आदि अंगों के स्पर्श की विधि यहाँ है। वेद में जलों को शारीरिक दोषों और

मानसिक पापों का अपहर्ता कहा गया है। जलों में अमृत है, जलों में औषध है—**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**[१]; जल औषध है, जल रोगविनाशक है—**आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः**[२]; हे जलो, जो मेरे शरीर में दोष और मल है, उसे बहा ले जाओ—**इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्**[३]; जल दोष और पाप को दूर करनेवाले हैं, हमसे दोष और पाप दूर हो जाएँ—**अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्**[४]; जल हमसे पाप को दूर करें, दुःस्वप्न के भयंकर परिणाम को दूर करें—**प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु**[५]। अतएव जलों से अंगस्पर्श करते हुए हम अनागत इन्द्रियविकारों से दूर रहने का तथा आगत इन्द्रिय-विकारों के शमन का संकल्प लेते हैं। जलस्पर्श की विधि इसका प्रतीक है कि आवश्यकता पड़ने पर हम जलों का उपयोग कर शारीरिक और मानसिक दोषों से मुक्त होते रहेंगे।

## अंगस्पर्श का वैदिक मन्त्र

उपर्युक्त अंगस्पर्श के मन्त्र पारस्कर गृह्यसूत्र के पूर्वोद्धृत सूत्र में 'ओम्' 'मे', 'अस्तु', 'सन्तु' शब्दों को बढ़ाकर पठित किये गए हैं। पारस्कर के टीकाकार आचार्य कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर एवं विश्वनाथ द्वारा यह परिवर्धन अनुमोदित है।[६] पारस्कर के उक्त सूत्र का वैदिक मूल मन्त्र यह है—

**वाङ्म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।**
**अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।**
**ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।**
**अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥**[७]

---

१. अथर्व० १.४.४
२. अथर्व० ३.७.५
३. अथर्व० ७.८९.३
४. अथर्व० १६.१.१०
५. अथर्व० १६.१.११
६. द्रष्टव्य पूर्वोक्त सूत्र १.३.२५ पर इन आचार्यों की टीका।
७. अथर्व० १९.६०.१, २

## ३. अग्न्याधान

**विधि—**

**ओं भूर्भुवः स्वः।**[1]

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उसमें छोटी-छोटी लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथ से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे—

**ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।**
**तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥**[2]

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को रखे।

भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृति हैं। इनसे पूर्व ओम् का उच्चारण करते हैं। ओम् परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। अध्यात्मपक्ष में भूः, भुवः, स्वः भी परमात्मा के वाचक हैं। 'भू सत्तायाम्' धातु से भूः की सिद्धि होने से भूः का अर्थ है सत्स्वरूप। 'भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्' धातु से 'भुवस्' बनता है, अतः भुवः का अर्थ है चित्स्वरूप। 'स्वः' आनन्दवाचक है, अतः इसका अर्थ आनन्दस्वरूप होता है। इस प्रकार अग्न्याधान से पूर्व हम सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को स्मरण करते हैं। भूः, भुवः, स्वः का अर्थ क्रमशः उत्पत्ति-कर्ता, स्थितिकर्ता और प्रलयकर्ता परमेश्वर भी हो सकता है।[3] भूः, भुवः, स्वः को त्रयी विद्या का सार माना जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न आलंकारिक वर्णन आता है—प्रजापति ने लोकों को तपाया, उन अभितप्त हुए लोकों से

---

१. द्रष्टव्य : भूर्भुवः स्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति। गोभि० गृह्य० १.१.११
२. यजु० ३.५
३. भवन्ति जायन्ते यस्मात् सर्वे लोकाः स भूः। भवन्ति तिष्ठन्ति यस्मिन् यस्याश्रये वा सर्वे लोकाः स भुवः। भूरञ्जिभ्यां कित्, उ० ४, २१८। सु सम्यग् ईरयति गमयति प्रलयदशां सर्वान् लोकान् यः स स्वः।

त्रयीविद्या चू पड़ी। उस त्रयी विद्या को तपाया, उस अभितप्त हुई त्रयी विद्या से भूः, भुवः, स्वः ये अक्षर चू पड़े। उन्हें भी तपाया, उन अभितप्त हुए भूः, भुवः, स्वः अक्षरों से ओंकार चू पड़ा।[1]

गोपथ ब्राह्मण में भी ऐसी ही कथा है। तप करके परमेश्वर ने पैरों से पृथिवी को, उदर से अन्तरिक्ष को और मूर्धा से द्यौ को निर्मित किया। इन तीनों लोकों को तपाया, उनसे तीन देव उत्पन्न हुए—अग्नि, वायु और आदित्य। तीनों देवों को तपाया, उनसे तीन वेद निकले—ऋग्, यजुः, साम। तीनों वेदों को तपाया, उनसे तीन महाव्याहृतियों का निर्माण किया—भूः, भुवः, स्वः। अन्त में कहा है कि जो यह चाहे कि मैं तीनों वेदों से कोई विधि करूँ, वह इन महाव्याहृतियों से ही उस विधि को कर ले। उसकी यह विधि तीनों वेदों से ही कृत हो जाती है।[2]

ओंकारपूर्वक भूः, भुवः, स्वः से किसी विधि को करने का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त ये व्याहृतियाँ क्रमशः भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोकों की भी वाचक हैं।[3] अग्न्याधान करने से पूर्व इन लोकों को भी स्मरण करना उपयोगी है, क्योंकि इन तीनों ही लोकों में अग्नि का वास है—पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में तथा द्यौ में सूर्य के रूप में।

शतपथ ब्राह्मण में 'भूर्भुवः स्वः' पूर्वक आहवनीय अग्नि

---

१. प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति। तान्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्। छा० उ० २.२३.२,३
तुलना : अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ मनु० २.७६

२. गो० ब्रा० पू०, १.६

३. भूरिति वा अयं लोको, भुव इत्यन्तरिक्षलोकः, स्वरित्यसौ लोकः। शत० ८.७.४.५

के आधान का विधान करते हुए इनका सम्बन्ध क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ, ब्रह्म–क्षत्र–विट् तथा आत्मा–प्रजा–पशुओं से बताया गया है।[१] तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में इन्हें क्रमशः भूलोक–अन्तरिक्षलोक–द्युलोक, अग्नि–वायु–आदित्य, ऋक्–साम–यजुः और प्राण–अपान–व्यान का वाचक कहा है।[२] वहाँ इनके द्वारा विधि करने का फल यह बताया है कि भूः के द्वारा अग्नि में, भुवः के द्वारा वायु में और भुवः के द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् इन–इन के ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है। इनका ध्यान करनेवाला आत्मराज्य को और मनसस्पति को प्राप्त कर लेता है। वह वाक्पति, चक्षुष्पति, श्रोत्रपति हो जाता है।[३] अध्यात्म में भूः, भुवः, स्वः का सम्बन्ध वाक्, चक्षु और श्रोत्र से भी है, क्योंकि इनमें भी अपने–अपने प्रकार की अग्नियों का वास है।

**अग्न्याधान–मन्त्र का अर्थ**—(ओम्) मैं परमेश्वर का ध्यान करता हूँ। (भूः भुवः स्वः) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों का ध्यान करता हूँ। (मैं (भूम्ना[४]) बाहुल्य से (द्यौः इव) द्युलोक के समान हो जाऊँ, (वरिम्णा[५]) विस्तार में (पृथिवी इव) भूमि के समान हो जाऊँ। (देवयजनि[६] पृथिवि) हे देवयज्ञ की आश्रयस्थली भूमि, (तस्याः ते पृष्ठे)

---

१. श०ब्रा० २.१.४.१०–१४
२. तै०आ० ७.५.१–३, तै०उ० शिक्षा वल्ली ५.१–४
३. भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत् ततो भवति। तै०आ० ७.६.१,२; तै०उ० शिक्षा वल्ली ६.१,२
४. बहोर्भावः भूमा तेन भूम्ना। 'बहोर्लोपो भू च बहोः' पा० ६.४.१५८।
५. उरोर्भावः वरिमा तेन वरिम्णा। 'प्रियस्थिरस्फिरोरु' पा० ६.४.१५७ इत्युरोर्वरादेशः।
६. देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ।

उस तुङ्ग भूमि के पृष्ठ पर (अन्नादम्[१] अग्निम्) हव्य अन्न का भक्षण करनेवाले यज्ञाग्नि को (अन्नाद्याय[२]) भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिए अथवा अन्न के भक्षण का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए (आ दधे) आधान करता हूँ।

यज्ञकर्ता प्रथम परमेश्वर का ध्यान करता है। फिर वह तीनों लोकों पर दृष्टि डालता है और देखता है कि जिस अग्नि का वह यज्ञकुण्ड में आधान करने लगा है, वह अग्नि क्रमशः पार्थिव अग्नि, आकाशीय विद्युदग्नि एवं सूर्याग्नि के रूप में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों लोकों में विद्यमान तथा परमोपयोगी है। द्युलोक का ध्यान करते हुए वह कहता है कि जैसे द्युलोक में नाना नक्षत्र और असंख्य सूर्यकिरणें आदि हैं, वैसे ही मेरे अन्दर भी अनेक सद्गुणरूप नक्षत्र एवं दिव्य अन्तःप्रकाश की किरणें उत्पन्न हों।[३] इसी प्रकार जैसे पृथिवी विस्तीर्ण है, वैसे ही मेरे आत्मा का भी विस्तार हो और मेरे अन्दर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना जागरित हो।[४] फिर यजमान पृथिवी को सम्बोधन कर कहता है कि तुम देवयजनी हो, तुम्हारे पृष्ठ पर सदा ही देवयज्ञ या अग्निहोत्र होते रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। अतः मैं भी तुम्हारे पृष्ठ पर इस यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान करता हूँ।[५] हे अग्ने, जैसे तुम आहुत किये हुए अन्न को खा लेते हो, वैसे ही मेरे अन्दर अन्न को खाने का और उसे पचा लेने का सामर्थ्य प्रदान

---

१. अन्नादम् अन्नमत्तीति अन्नात् अन्नादो वा तम्।
२. अन्नाद्याय अन्नं च तद् अद्यं चेति अन्नाद्यम् : आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः पा० २.२.३६। यद् वा अन्नस्य आद्याय भक्षणाय भक्षणसामर्थ्याय।
३. यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासम् इत्येवैतदाह यदाह द्यौरिव भूम्नेति। शत० ब्रा० २.१.४.२८
४. पृथिवीव वरिम्णेति। यथेयं पृथिवी उर्वी एवम् उरुर्भूयासम् इत्येवैतदाह। श०ब्रा० २.१.४.२८।
५. अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे इत्यन्नादोऽग्निः, अन्नादो भूयासमित्येव एतदाह। श०ब्रा० २.१.४.२८।

करो। अग्निहोत्र के औषधमय धूम से मेरी जाठराग्नि को तीव्र कर दो। 'अन्नाद्य' का दूसरा अर्थ लें तो भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिए हे यज्ञाग्नि, मैं तुम्हारा आधान करता हूँ। तुममें डाली हुई आहुति आकाश में मेघमण्डल उत्पन्न कर वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति में कारण बनेगी।

**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**
**आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥**[1]

## अग्निप्रदीपन

**विधि**—वेदी के बीच में आधान की गई अग्नि पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

**ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।**
**अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥**[2]

(ओम्) ओम् के उच्चारण के साथ अग्निप्रदीपन करता हूँ। (अग्ने) हे अग्नि, (उद्बुध्यस्व) उद्बुद्ध हो, (प्रतिजागृहि) जाग अर्थात् उन्नत ज्वालाओंवाला हो जा। (त्वम्) तू (अयं च) और यह यजमान (इष्टापूर्ते) इष्ट और पूर्त कर्मों को (संसृजेथाम्) रचाओ। (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन् सधस्थे अधि) उत्कृष्ट यज्ञमण्डप में (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो, तुम (यजमानः च) और यजमान (सीदत) बैठो।

पूर्व-मन्त्र से यज्ञ-वेदी में अग्नि का आधान किया गया था। अब पंखे से हवा करते हुए कहते हैं कि हे अग्नि, तू उद्बुद्ध हो, जाग, ऊर्ध्वज्वाल हो। पुरोहित कहता है कि हे

---

१. मनु० ३.७६
२. यजु० १५.५४; १८.६१

अग्नि, तू और यह यजमान मिलकर इष्ट और पूर्त को रचाओ। यज्ञयागादि श्रौत कर्म 'इष्ट' और वापी, कूप, तड़ाग, देवमन्दिर (सार्वजनिक पूजागृह या यज्ञशाला) का निर्माण, गरीबों के लिए अन्न के भण्डारे खोलना, बगीचे लगाना आदि स्मार्त कर्म 'पूर्त' कहलाते हैं।[1] ये सब कर्म अग्निहोत्रपूर्वक किये जाते हैं, अतः अग्नि और यजमान मिलकर ही इन कर्मों को करेंगे। 'इष्ट' शब्द देवपूजासंगतिकरणदानार्थक 'यज' धातु से और 'पूर्त' शब्द पालन-पूरणार्थक 'पृ' धातु से निष्पन्न होते हैं। प्रस्तुत मन्त्र[2] के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने इष्ट का अर्थ अभीष्ट सुख, विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, संगतिकरण और सत्यविद्यादिदान तथा पूर्त का अर्थ पूर्ण बल, ब्रह्मचर्य, विद्यालंकरण, पूर्ण यौवन और पूर्ण साधन-उपसाधन की प्राप्ति किया है।[3] यजमान को नित्य अग्निहोत्र करते हुए इष्टापूर्त से सूचित इन समस्त कर्मों का भी पालन करना है।

फिर पुरोहित सब देवों को सम्बोधित कर कहता है कि तुम और यह यजमान इस उत्तर सधस्थ में आकर बैठो। 'देवाः' का अर्थ है दिव्य गुणोंवाले विद्वान्-जन **विद्वांसो हि देवाः**[4]। 'सधस्थ' का अर्थ है, जिसमें एकसाथ मिलकर बैठा जाए वह यज्ञगृह, मण्डप आदि।[5] मन्त्र में 'सधस्थे' का

---

१. इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्ते कर्मणी—महीधर। इष्टं श्रुतिविहितं यागादि, पूर्तं स्मृत्युक्तं कूपारामतटाकादि—सायण, अथर्व २.१२.४ का भाष्य। इष्टापूर्ते इष्टं श्रौतं कर्म च, पूर्तं स्मार्तं कर्म च ते—द०भा० यजु० १८.६०।

२. यजु० १५.५४

३. इष्टापूर्ते इष्टं सुखं विद्वत्सत्करणम् ईश्वराराधनं सत्सङ्गतिकरणं सत्यविद्यादिदानं च, पूर्तं पूर्णं बलं ब्रह्मचर्यविद्यालङ्करणं पूर्णं यौवनं पूर्णं साधनोपसाधनं च ते।

४. श० ब्रा० ३.७.३.१०

५. सधस्थे सहस्थाने (निरु० ३.१५)। सहोपपदात् स्थाधातोः कः। सधमादस्थयोश्छन्दसि (पा० ६.३.९६) इति सहस्य सधादेशः। सह तिष्ठन्ति जना यत्र स सधस्थः यज्ञगृहादिकम्।

विशेषण 'उत्तरस्मिन्' दिया है, जिससे सूचित होता है कि यज्ञगृह उत्कृष्ट कोटि का होना चाहिए। साथ ही 'देवाः' के साथ 'विश्वे' विशेषण यह सूचित करता है कि जिस परिवार, संस्था, समाज आदि में अग्निहोत्र हो रहा हो, यथासंभव उसके सभी सदस्यों को उसमें सम्मिलित होना चाहिए।

## ४. समिदाधान

**विधि**—जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा पलाश आदि[१] की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उसमें से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं—

**ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥[२]**

—इस मन्त्र से प्रथम।

**ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।**
**आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥**
**इदमग्नये—इदं न मम॥[३]**

---

१. यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब (आम), बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-छोटी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा-लगी, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। सं०वि० सामान्यप्रकरण।

२. द्रष्टव्य : आश्व० गृह्य० १.१०.१२—शृतानि हवींष्यभिघार्योदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्येध्ममभिघार्य "अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा।" इति।

३. यजु० ३.१। "ओं, स्वाहा, इदमग्नये—इदं न मम" अध्याहृत हैं।

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥
इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥[1]

—इन दोनों मन्त्रों से दूसरी।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठय स्वाहा॥
इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम॥[2]

—इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें।

**प्रथम समिधा**

(ओम्) ओम् का उच्चारण करता हूँ। (जातवेदः[3]) हे सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान तथा उत्पन्न पदार्थों के प्रकाशक अग्नि, (अयम् इध्मः[4]) यह समिधा (ते आत्मा) तेरा जीवन-हेतु है। (तेन) उससे (इध्यस्व[5]) प्रदीप्त हो (वर्धस्व च) और बढ़। (इद्ध) प्रदीप्त कर (वर्धय च) और बढ़ा। (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से, (पशुभिः) पशुओं से, (ब्रह्मवर्चसेन[6]) ब्रह्म-तेज से और (अन्नाद्येन) भक्षणीय अन्न से एवं अन्नादि भोगों को भोगने के सामर्थ्य से भी (समेधय[7]) समृद्ध कर। (स्वाहा[8]) हम तुझमें समिधा की आहुति देते हैं। (इदम्) यह

१. यजु० ३.२। ओं, स्वाहा आदि अध्याहृत। २. यजु० ३.३। वही।

३. जाते जाते विद्यते, जातानि वेदयते प्रकाशयति वा स जातवेदाः। जातोपपदात् विद सत्तायाम् इति यद्वा विद ज्ञाने इति णिजन्तात् 'गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' उ० ४.२२८ इत्यसिः प्रत्ययः।

४. 'इध्म' समिन्धनात्, निरु० ८.४। इध्यते दीप्यते इति इध्मः समित्, इन्धी दीप्तौ धातोः 'इषि युधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' उ० १.१४५ इति मक् प्रत्ययः।

५. इन्धी दीप्तौ, भावे यक्।

६. ब्रह्मणो वर्चः इति ब्रह्मवर्चसम्। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' (पा० ५.४.७८) इति समासान्तोऽच्।

७. समेधय, एध वृद्धौ, णिच्।

८. स्वाहा सुष्ठु आ समन्तात् हानं त्यागः अग्नौ हविः प्रक्षेपणम्, सु-आ-हा, ओहाक् त्यागे।

आहुति (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए है, (इदम्) यह आहुति (मम न) मेरी नहीं है।

हम अग्नि में समिधा का आधान करते हुए अग्नि से कहते हैं कि इससे तू भी प्रदीप्त हो और बढ़ तथा हमें भी प्रदीप्त कर और बढ़ा। साथ ही प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस् और अन्नाद्य से समृद्ध कर। यज्ञाग्नि कोई चेतन वस्तु नहीं है, जो उससे प्रार्थना की जाए। तात्पर्य यह है कि अग्नि जैसे प्रदीप्त होता है और ज्वालाओं से बढ़ता है, वैसे ही उससे शिक्षा लेकर हम भी तेजस्वी हों तथा बढ़ें। हमारा आत्मा और शरीर तेजस्वी, परिपुष्ट तथा समुन्नत हो। इसके अतिरिक्त चार वस्तुओं की और समृद्धि माँगी गई है—प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस् और अन्नाद्य।

प्रजा का सामान्य अर्थ सन्तान होता है। परन्तु इसका यही एकमात्र अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। श्रेष्ठ सन्तान की प्रार्थना तो गृहस्थ ही कर सकता है, जबकि अग्निहोत्र ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों के लिए है। प्रजा का यौगिक अर्थ है 'जो प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न हो'—**प्रकर्षेण जायते इति प्रजा।** जो-जो व्यक्ति जिस-जिस वस्तु को उत्पन्न करता है, वह-वह उसकी प्रजा है। ब्रह्मचारी की प्रजा है तप, अधीत विद्या, बल-वीर्य आदि। गृहस्थ की प्रजा है सन्तान। वानप्रस्थ की प्रजा है तपस्या, संयम आदि। ब्राह्मण की प्रजा है ब्रह्मज्ञान, क्षत्रिय राजा की प्रजा है राष्ट्रवासी जन, वैश्य की प्रजा है कृषि से उत्पन्न सस्यसम्पत्ति, पशुपालन से उत्पन्न दुग्ध-घृतादि एवं व्यापार से उत्पन्न ऐश्वर्य। उनमें भी विभिन्न पेशोंवाले व्यक्तियों की विभिन्न प्रजाएँ हो सकती हैं, यथा स्वर्णकार की प्रजा हैं स्वर्णाभूषण, कुम्भकार की प्रजा हैं घट आदि मृत्पात्र। इस प्रकार प्रजा शब्द से श्रेष्ठ सन्तति के अतिरिक्त अग्निहोत्री अपने-अपने अनुकूल अन्य अर्थ भी गृहीत कर सकता है।

दूसरी वस्तु जिससे समृद्ध होने की प्रार्थना की गई है, पशु हैं। वेदों के मुख्य पशु हैं—गौ, अश्व और अवि। गौओं से यज्ञार्थ

तथा स्वोपयोगार्थ दुग्ध एवं घृत की प्राप्ति होती है। गौओं के बछड़े बैल बनकर कृषि में काम आते हैं। अश्व सवारी का साधन है। अवि (भेड़) से ऊन प्राप्त होती है। पशु का दूसरा अर्थ शारीरिक इन्द्रियाँ भी होता है, अतः पशु से इन्द्रियों का ऐश्वर्य भी प्रार्थनीय है। तीसरे, ब्रह्मवर्चस् से ब्राह्मतेज, आत्मबल या ईश्वरविश्वास का बल अभिप्रेत है। चौथे, अन्नाद्य का अर्थ पूर्व–अग्न्याधान–मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार अग्नि से प्रार्थित इन वस्तुओं में भौतिक तथा आत्मिक दोनों प्रकार की समृद्धि आ जाती है।[१]

## द्वितीय समिधा

(ओम्) परमेश्वर का आदेश है कि (समिधा) समिधा के द्वारा (अग्निं) यज्ञाग्नि की (दुवस्यत[२]) सेवा करो; (घृतैः) घृतों से (अतिथिम्[३]) अतिथिरूप अथवा गतिशील अग्नि को (बोधयत) जागरित करो; (अस्मिन्) इसमें (हव्या[४]) हवियों को (आ जुहोतन[५]) आहुत करो। अतः (स्वाहा) मैं अग्नि में समिधा की आहुति देता हूँ/देती हूँ; (इदम्) यह आहुति (अग्नये) अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (न मम) मेरी नहीं है।

---

१. तुलना : प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति—अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहेति। पार॰ गृह्य॰ २.४.३

२. दुवस्यतिः परिचरणकर्मसु पठितः। निघं॰ ३.५

३. अतिथिम् अतिथिवत् सुगन्धिमिष्टपुष्टिप्रदरोगनाशकद्रव्यैः सत्करणीयम्। यद्वा अत इति सततं गच्छतीत्यतिथिः, ज्वालाभिरितस्ततो गमनशीलोऽग्निः। अत सातत्यगमने इति धातोः 'ऋतन्यञ्जि' उ॰ ४.२ इत्यादिना इथिन् प्रत्ययः।

४. हव्या हव्यानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा॰ ६.१.७० इति शेर्लोपः।

५. जुहोतन जुहुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' पा॰ ७.१.४५ इति तस्य तनबादेशः।

(ओम्) परमेश्वर का आदेश है कि (सुसमिद्धाय[१]) सम्यक् प्रकार संप्रदीप्त (शोचिषे)[२] ज्वालामय, पवित्र (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए (तीव्रं घृतं) तपाया हुआ घृत (जुहोतन) स्वतन्त्र रूप से या समिधा में लगाकर आहुत करो। अतः (स्वाहा) मैं घृत में डूबी समिधा का होम करता हूँ/करती हूँ। (इदम्) यह घृताक्त समिधा का होम (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (न मम) मेरा नहीं है।

इन मन्त्रों से घृत में डूबी हुई समिधा की आहुति देते हैं। इन दोनों ही मन्त्रों में समिधा और घृत दोनों की चर्चा है, जबकि समिदाधान के प्रथम मन्त्र में केवल समिधा (इध्मः) का नामोल्लेख है। तृतीय समिधावाले मन्त्र में फिर घृत और समिधा दोनों का वर्णन है। इस प्रकार समिदाधान के चार मन्त्रों में से तीन में दोनों का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि घृत में डुबाकर ही समिधाओं का आधान करना अभिप्रेत है, शुष्क समिधाओं का नहीं।

## एक शंका और उसका उत्तर

इस प्रकरण में एक शंका यह की जाती है कि जब उक्त दोनों मन्त्रों का उच्चारण कर चुकने के पश्चात् ही अग्नि में द्वितीय समिधा छोड़ी जाती है, तब प्रथम मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा', '**इदमग्नये—इदं न मम**' क्यों पठित किया गया है? इस विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि यह अंश नहीं बोलना चाहिए, अन्यों का मत है कि 'समिधाग्निं' सम्पूर्ण मन्त्र का जपमात्र इष्ट जानना चाहिए।[३] परन्तु महर्षि के विधान

१. सु सम् इन्धी दीप्तौ, क्त प्रत्ययः।
२. शोचति दीप्यते, शुच्यति पवित्रो भवति शोचयति पवित्रीकरोतीति वा शोचिः अग्निः। शुच दीप्तौ, यद्वा शुचिर पूतीभावे इति धातोः 'अर्चि शुचि हुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः' उ० २.१.१० इत्यसिः।
३. द्रष्टव्य : रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्कारविधि का आर्यसमाज

के अनुसार यथालिखित दोनों ही मन्त्रों का अविकल रूप से उच्चारण किया जाना अभीष्ट है। किसी अंश का त्याग देना, अथवा दोनों में से प्रथम मन्त्र का जपमात्र करना तथा उच्चारण केवल दूसरे मन्त्र का करना महर्षि को अभिमत प्रतीत नहीं होता है। शंका का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि जब दो मन्त्रों से एक आहुति दी जानी है तथा एक मन्त्र में केवल अग्नि नाम है और दूसरे मन्त्र में जातवेदस् अग्नि, तब इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता था कि प्रथम मन्त्र में अग्नि के लिए 'स्वाहा' आदि कह दिया जाए तथा द्वितीय में जातवेदस् अग्नि के लिए; तदनन्तर आहुति इकट्ठी दे दी जाए।

## तृतीय समिधा

(अङ्गिरः[१]) हे गति करने तथा करानेवाले अग्नि, (तं त्वा) उस तुझको (घृतेन) घृत के साथ (समिद्भिः) समिधाओं से (वर्द्धयामसि[२]) हम बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य[३]) हे पदार्थों को मिलाने और पृथक् करनेवाले अग्नि, तू (बृहत्) बहुत अधिक (शोच[४]) प्रदीप्त हो। (स्वाहा) मैं तुझमें

---

शताब्दी संस्करण, प्रथम परिशिष्ट, पृ० ३३० तथा 'वैदिक नित्यकर्म-विधि' संस्करण ११८०, द्वितीय परिशिष्ट, पृ० २१२-१५ पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक का लेख।

---

१. अङ्गति गच्छति गमयति चालयति यानादीन् उत्खातयति रोगादीन् वा, गमयति प्रापयति स्वास्थ्यादिकं वा सोऽङ्गिराः, तत्सम्बुद्धौ। अगि गतौ इति धातोः 'अङ्गिराः' उ० ४.२३७ इत्यसि प्रत्यय इरुडागमश्च।
२. वर्द्धयामसि वर्द्धयामः। 'इदन्तो मसि' पा० ७.१.४६ इति मस् इदन्तः।
३. यौति पदार्थान् मिश्रयति पृथक् करोति च स युवा। अतिशयेन युवा यविष्ठः, यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। अत्र युवन् शब्दादिष्ठन् प्रत्ययस्ततो 'नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत्' पा० ४.५.३६ इति वार्तिकेन स्वार्थे यत् प्रत्ययः।
४. शोचा शोच दीप्यस्व, शुच दीप्तौ। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' पा० ६.३.१३५ इति दीर्घः।

घृताक्त समिधा की आहुति देता हूँ/देती हूँ। (इदम्) यह आहुति (अङ्गिरसे अग्नये) अङ्गिरा अग्नि के लिए है; (न मम) किन्तु यह मेरी नहीं है।

इस मन्त्र में अग्नि को अङ्गिरा तथा यविष्ठ्य नामों से सम्बोधित किया है। अङ्गिरस् शब्द गत्यर्थक अगि धातु से बनता है। अग्नि स्वयं गतिमान् है। वह शीत पदार्थों को उष्ण करने के लिए उनकी ओर प्रवाहित होता है, उसकी ज्वालाएँ भी गति करती हैं। साथ ही वह यान आदि में प्रयुक्त होकर उन्हें गति देता या चलाता है। अग्निहोत्र का अग्नि रोग, निस्तेजस्कता, काम-क्रोध आदि को गति देता अर्थात् विचलित कर देता या उखाड़ फेंकता है तथा स्वास्थ्य आदि को प्राप्त कराता है। यविष्ठ्य शब्द युवन् शब्द से अतिशय अर्थ में इष्ठन् तथा स्वार्थ में यत् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। युवन् में यु धातु है, जिसके मिलाना तथा पृथक्-पृथक् करना दोनों अर्थ होते हैं। अग्नि के प्रयोग से पदार्थ जुड़ भी सकते हैं तथा टुकड़ों या अणुओं में विभक्त भी हो सकते हैं। अग्निहोत्र का अग्नि भी वायुमण्डल के साथ हव्य पदार्थों के यज्ञिय धूम को संयुक्त करता है तथा वायुमण्डल में विद्यमान मलिनता, रोगकृमि आदि को उससे पृथक् करता है।

## अग्नि में तीन समिधाएँ अर्पित करने का तात्पर्य

समिध् शब्द सम् उपसर्गपूर्वक दीप्त्यर्थक इन्ध् धातु से सिद्ध होता है। लकड़ी को समिधा इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह अग्नि में पड़कर प्रदीप्त हो उठती है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि जब आचार्य ब्रह्मचारी को कहता है कि समिधा का आधान कर, तब उसका तात्पर्य होता है कि तू अपने-आपको तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रदीप्त कर—

**समिधमाधेहीति समिन्त्स्वात्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्येवैनं तदाह[1]।**

---

१. श० ब्रा० ११.५.४.५

अथर्ववेद में भी कहा है कि ब्रह्मचारी समिधा से समिद्ध (प्रदीप्त) होकर गुरुकुल से बाहर आता है—**ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः ।**[१] अतः समिदाधान करते समय ब्रह्मचारी के समान प्रत्येक अग्निहोत्री को यह भावना जगानी चाहिए कि जैसे ये समिधाएँ अग्नि में पड़कर प्रदीप्त हो उठती हैं, वैसे ही मैं भी तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रदीप्त हो जाऊँगा।

तीन समिधाओं के विषय में अथर्ववेद कहता है कि एक समिधा यह पृथिवी होती है, दूसरी समिधा द्युलोक, तीसरी अन्तरिक्ष; इस समिदाधान के द्वारा ब्रह्मचारी तीनों लोकों को पालित–पूरित करता है—

**इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।**
**ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।**[२]

इससे सूचित होता है कि अग्नि में समिधाएँ अर्पित करते समय यजमान यह चिन्तन करे कि मेरी ये तीन समिधा क्रमशः पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष हैं। जैसे अग्नि में आहुत समिधाएँ प्रदीप्त हो जाती हैं, वैसे ही मेरी ज्ञानाग्नि में ये तीनों लोक प्रकाशित हो उठें, अर्थात् मैं इनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लूँ।

तीन समिधाएँ अन्य त्रिकों की भी प्रतीक बनकर उनके ज्ञान, उनके ग्रहण एवं उन्हें दृष्टि में रखकर अपने कर्त्तव्य-पालन की द्योतक हो सकती हैं। यथा—

| प्रथम समिधा | द्वितीय समिधा | तृतीय समिधा |
|---|---|---|
| अग्नि | वायु | आदित्य |
| ऋग् | यजुः | साम |

---

१. अथर्व ११.५.६
'समिधा सायंप्रातरग्नावाधीयमानया तज्जनितेन तेजसा समिद्धः संदीपितः'—सायण।
२. अथर्व० ११.५.४

| | | |
|---|---|---|
| प्रकृति | जीव | ईश्वर |
| ज्ञान | कर्म | उपासना |
| जाग्रत् | स्वप्न | सुषुप्ति |
| तमस् | रजस् | सत्त्व |
| विट् | क्षत्र | ब्रह्म |
| माता | पिता | आचार्य |
| प्रातःसवन | माध्यन्दिन सवन | सायं सवन |
| देवऋण | पितृऋण | ऋषिऋण |
| ब्रह्मचर्य | गार्हस्थ्य | वानप्रस्थ |
| अधियज्ञ | अधिदैवत | अध्यात्म |
| भूत | वर्तमान | भविष्य |
| वात | पित्त | कफ |
| सत्यम् | शिवम् | सुन्दरम् |
| श्रवण | मनन | निदिध्यासन |
| मन | वचन | कर्म |
| व्यक्ति | राष्ट्र | विश्व |
| शरीर | मन | आत्मा |

## समिधाएँ आठ-आठ अंगुल की क्यों ?

तीन समिधाएँ आठ-आठ अंगुल की लेनी होती हैं। आठ अंगुल की समिधा को घृतपात्र में डुबोना तथा यज्ञकुण्ड में उसकी आहुति देना सुविधाजनक तो है ही, किन्तु साथ ही इससे यजमान कतिपय भावनाओं को भी गृहीत कर सकता है। यथा—

१. अग्नि का सम्बन्ध गायत्री छन्द से विशेष है।[१] गायत्री छन्द में ८-८ अक्षर के तीन पाद होते हैं। आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाएँ भी एक प्रकार से गायत्री छन्द बना देती हैं। इस प्रकार अग्निहोत्री समिदाधान द्वारा गायत्री छन्द को स्मरण

---

१. अग्नेर्गायत्र्यभवत्।—ऋग्० १०.१३०.४

करता है, जो ऊर्ध्वारोहण का प्रतीक है।

२. आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाओं के आधान से जो २४ की संख्या बनती है, उससे अग्निहोत्री अपने अन्दर यह भावना भी जगा सकता है कि मैं अहोरात्र के अपने चौबीसों घंटों में अग्नि जैसी तेजस्विता को धारण किये रहूँगा।

३. अहोरात्र में आठ याम या प्रहर होते हैं। अष्ट अंगुल आठ यामों के तथा समिधाओं की त्रित्व संख्या मन, वचन और कर्म की सूचक हैं। समिदाधान करता हुआ यह भावना ग्रहण करे कि मैं अहोरात्र के आठों प्रहरों में मन, वचन और कर्म तीनों से अग्नि के समान सत्यव्रती बनूँगा।

४. आठ अंगुल आठ दिशाओं को तथा तीन समिधाएँ व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व को सूचित करती हैं। अग्निहोत्री यह भावना अपने अन्दर बद्धमूल करे कि मैं आठों दिशओं में वैयक्तिक, राष्ट्रीय और विश्व की शांति एवं उन्नति में संलग्न रहूँगा।

५. अष्ट अंगुल यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि आठ योगांगों के तथा तीन समिधाएँ शरीर, मन, और आत्मा की द्योतक हैं। अग्निहोत्री यह चिन्तन करे कि मैं आठों योगांगों के द्वारा जीवन-भर अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करता रहूँगा।

६. आठ अंगुल अणिमा, लघिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियों के तथा समिधाओं की त्रित्व संख्या बालक, युवक, वृद्ध की प्रतीक हैं। अग्निहोत्री यह भावना ग्रहण करे कि आठों सिद्धियों को प्राप्त कर उनके सहारे मैं बालक, युवक, वृद्ध सबका कल्याण करूँगा।

७. आठ अंगुल मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, ललित एवं सहस्रार इन शरीरस्थ आठ चक्रों के तथा समिधाओं का त्रित्व प्राण, मन और आत्मा का सूचक है। अपने प्राण, मन और आत्मा को इन चक्रों में चङ्क्रमण कराकर आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करे, यह सूचित होता है।

८. आठ अंगुल से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र ये आठ वसु सूचित होते हैं। तीन समिधाएँ माता, पिता, तथा आचार्य इन तीन गुरुओं की द्योतक हैं। तीन गुरुओं की सहायता से आठों वसुओं का सम्पूर्ण ज्ञान करे, यह सूचना मिलती है।

## 'इदं न मम' का तात्पर्य

समिदाधान के चारों मन्त्रों के अन्त में 'इदं न मम' का उच्चारण किया जाता है। आगे भी जहाँ 'स्वाहा' बोलकर आहुति दी जाती है, वहाँ मन्त्र के अन्त में 'इदं न मम' आया है। आहुति में जो कुछ समिधा, घृत, सुगन्धि-मिष्ट-पुष्ट-रोगनाशक द्रव्य आदि हम अग्नि को भेंट देते हैं, वह 'हमारा नहीं है'; जिसका अंश था, उसे दिया जा रहा है; इसमें हमारा कुछ गौरव नहीं है। इस प्रकार **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना 'इदं न मम' के द्वारा जागरित की जाती है। यदि दान के साथ अहंकार या ममत्व की भावना हो तो वह दान सात्त्विक नहीं, प्रत्युत राजस कहलाता है। कविवर रहीम के जीवन की एक घटना 'इदं न मम' की भावना को बहुत सुन्दर रूप से प्रकाशित करती है। रहीम नवाब थे। उनका नियम था प्रतिदिन कुछ रुपये-पैसे आदि मिलाकर चारों ओर उनकी ढेरी लगा देते थे और आँखें नीचे करके उसमें से याचकों को मुट्ठी भर-भरकर देते जाते। एक बार कविवर गंग ने पूछा—

**ऐसी कहाँ नवाबजू सीखे देनी दैन।**
**ज्यों ज्यों कर ऊँचे चढ़े त्यों त्यों नीचे नैन॥**

रहीम ने उत्तर दिया—

**देनेवाला और है जो देता दिन रैन।**
**दुनिया मेरा नाम ले या विधि नीचे नैन॥**[१]

---

१. पं० बुद्धदेव विद्यालंकार : पंचयज्ञप्रकाश। ब्रह्मयज्ञ प्रकरण के 'दक्षिणा दिग्' मन्त्र की व्याख्या, पृ० ७६, से यह कथा गृहीत की गई है।

## पाँच घृताहुति

**विधि**—घृत में कस्तूरी, केशर, जायफल-जावित्री, मीठा आदि डालकर मोहनभोग[१] बनाए। उस घृत में चसमा जिसमें छह मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पाँच आहुति देनी—

**ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥**[२]

यह मन्त्र इसी रूप में समिदाधान-विधि में आ चुका है। वहाँ समिदाधान में इसका विनियोग होने से 'इध्मः' का अर्थ समिधा किया गया था। यहाँ घृताहुति में विनियुक्त होने से 'इध्मः' घृतवाची होगा—**इन्धे प्रदीपयति अग्निम् इति इध्मः घृतम्।** शेष अर्थ पूर्ववत् होगा।

## घृताहुतियाँ पाँच क्यों?

वैदिक संस्कृति में तीन संख्या के समान पाँच की संख्या का भी विशेष महत्त्व है। पाँच प्राण हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पाँच महायज्ञ हैं, पाँच अग्नियाँ हैं, पाँच सामगान के अवयव हैं, पाँच तन्मात्राएँ हैं, पाँच भूत हैं, पाँच शरीर की धातुएँ हैं, पाँच पशु हैं, पाँच यम हैं, पाँच नियम हैं।[३] पाँच घृताहुतियाँ देते हुए इन तथा अन्य पंचकों का हमें ध्यान

---

१. 'सेर-भर घी के मोहनभोग में रत्ती-भर कस्तूरी, मासे-भर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेर-भर मीठा—सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिए बनावें।—सं०वि० सामान्य प्रकरण।

२. आश्वलायन गृह्य० १.१०.१२

३. पाँच अग्नियाँ—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य। पाँच सामावयव—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन। पाँच शरीर की धातुएँ—चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा। पाँच पशु—तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः। अथर्व० ११.२.९

रखना है। जैसे घृताहुति से अग्नि प्रदीप्त होती है, वैसे ही इन पंचकों को हमें अपनी ज्ञानाग्नि में प्रदीप्त करना है तथा इनका अपने जीवन में यथायोग्य उपयोग करना है।

तैत्तिरीय आरण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् में पाङ्क्तों (पञ्चकों) का वर्णन इस रूप में मिलता है[1]—

| अधिभूत पाङ्क्त | | | अध्यात्म पाङ्क्त | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | १ | २ | ३ |
| पृथिवी | अग्नि | जल | प्राण | चक्षु | चर्म |
| अन्तरिक्ष | वायु | ओषधि | व्यान | श्रोत्र | मांस |
| द्यौ | आदित्य | वनस्पति | अपान | मन | स्नायु |
| दिशाएँ | चन्द्रमा | आकाश | उदान | वाक् | अस्थि |
| अवान्तर दिशाएँ | नक्षत्र | आत्मा | समान | त्वक् | मज्जा |

अधिभूत पाङ्क्तों में तीन विराट् पंचक हैं, और अध्यात्म पाङ्क्तों में तीन दैहिक पंचक हैं। इन पंचकों का ज्ञान प्राप्त करके इनसे लाभ उठाने का आशय भी पाँच घृताहुतियों से ले सकते हैं।

## घृताहुति-मन्त्र की अध्यात्म-योजना

बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ हमें आन्तरिक अग्निहोत्र भी करना है। उस पक्ष में अग्नि परमात्मा है। उस परमात्माग्नि में हम अपने आत्मा को ईंधन बनाकर समर्पित करते हैं, जिससे हमारा आत्मा ब्रह्मतेज एवं सद्गुणों से प्रदीप्त हो उठे। मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

---

१. द्रष्टव्य : तै०आ० प्रपा० ७, अनुवाक ७; तै०उप० शिक्षा वल्ली, अनुवाक ७।

(ओम्) हे परमात्मा, (जातवेदः[१]) हे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वविदित, सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर, (अयम् आत्मा) यह मेरा आत्मा (ते इध्मः) तेरा ईंधन है, ईंधन के समान तुझे समर्पित है। (तेन) इस मेरे आत्मसमर्पण से (इध्यस्व) तू प्रदीप्त अर्थात् प्रसन्न हो (वर्धस्व च) और बढ़ अर्थात् सर्वत्र तेरा प्रचार-प्रसार हो। (इद्ध) प्रदीप्त कर (वर्धय च) और बढ़ा (अस्मान्) हमें। (प्रजया) सद्गुणों की प्रजा से, (पशुभिः) सूक्ष्म-दर्शन की शक्तियों से, (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से और (अन्नाद्येन) सांसारिक भोगों को भोगने के उचित प्रकार के ज्ञान से (समेधय) समुन्नत कर। (स्वाहा[२]) यह कैसी उत्तम प्रार्थना है, अथवा यह मेरा आत्म-समर्पण स्वीकार कर। (इदं जातवेदसे अग्नये) यह जातवेदा प्रभु को मेरा समर्पण है; (इदं न मम) यह मेरा नहीं है, अर्थात् अहंकार से मिश्रित नहीं है।

## ६. जल-प्रोक्षण

**विधि**—तत्पश्चात् अंजलि में जल लेके वेदी की पूर्व दिशा आदि में चारों ओर छिड़कावें। उसके ये मन्त्र हैं[३]—

---

१. जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। निरु० ७.१९

२. स्वाहा इत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरु० ८.२०

३. तुलनीय : अग्निमुपसमाधाय परिसमुह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निम् 'अदितेऽनुमन्यस्व' इत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत्। 'अनुमतेऽनुमन्यस्व' इति पश्चात्, 'सरस्वत्यनुमन्यस्व' इत्युत्तरतः। 'देव सवितः प्रसुव' इति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा। गोभिल गृह्य० १.३.१-४। अग्निं परिषिञ्चति 'अदितेऽनुमन्यस्व' इति दक्षिणतः प्राचीनम्, 'अनुमतेऽनुमन्यस्व' इति पश्चादुदीचीनं, 'सरस्वतेऽनुमन्यस्व' इत्युत्तरतः प्राचीनं 'देव सवितः प्रसुव' इति समन्तम्। आप० गृह्य० १.२.३। इन दोनों गृह्यसूत्रों में प्रथम मन्त्र से दक्षिण दिशा में जल-सेचन करना लिखा है, जबकि स्वामी जी का विनियोग पूर्व दिशा का है। विनियोगों में अन्तर प्राचीन आचार्यों में भी पाया जाता है।

**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व।** इस मन्त्र से पूर्व,
**ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व।** इससे पश्चिम,
**ओम् सरस्वत्यनुमन्यस्व।** इससे उत्तर और
**ओं देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य। दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः कै॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥**[1]

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावें।

(ओम्[2]) मैं परमेश्वर को स्मरण करके कहता हूँ—(अदिते) हे मेरे अखण्डनीय अजर-अमर आत्मन्, (अनुमन्यस्व) तू इस यज्ञ-कर्म का अनुमोदन कर।

(अनुमते) हे अनुकूल मनन-चिन्तन और बोध के साधन-भूत मन और बुद्धि, (अनुमन्यस्व) तुम भी यज्ञ-कर्म का अनुमोदन करो।

(सरस्वति) हे वाणी, (अनुमन्यस्व) तू भी यज्ञ-कर्म का अनुमोदन कर।

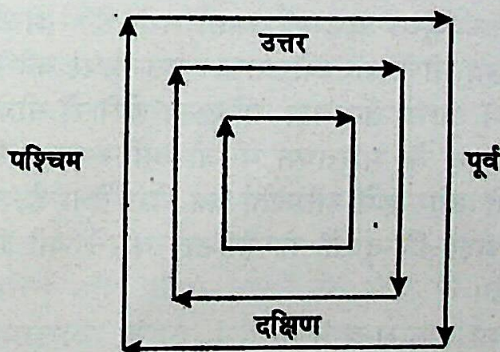
(देव सवितः) हे प्रकाशक प्रेरक परमेश्वर! (यज्ञं प्रसुव) यज्ञ को प्रेरित करो, (यज्ञपतिं प्रसुव) मुझ यजमान को प्रेरित करो (भगाय) जिससे उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो। (दिव्यः) दिव्य (गन्धर्वः) आत्मा को धारण करनेवाला और (केतपूः) विचार को पवित्र करनेवाला परमेश्वर (नः केतं पुनातु) हमारे विचार को पवित्र करे। (वाचस्पतिः) वाणी का अधिपति परमेश्वर (नः वाचं) हमारी वाणी को (स्वदतु) मधुर अर्थात् यज्ञ का अनुमोदन करनेवाली बनाए।

विधि में स्वामी जी ने केवल दिशाओं का उल्लेख किया है कि अमुक मन्त्र से पूर्व में, अमुक मन्त्र से पश्चिम में, अमुक मन्त्र से उत्तर में और अमुक मन्त्र से वेदी के चारों ओर

---

१. यजु० ३०.१
२. आगे भी सब मन्त्रों के प्रारंभ में ओम् प्रयुक्त हुआ है। अब पुनः-पुनः उसका अर्थ नहीं किया जाएगा।

जल छिड़कावें। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि दिशा में किस ओर से किस ओर को जल छिड़के? इसका उत्तर आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से मिलता है। वहाँ बताया है कि जल-सेचन की गति पूर्वाभिमुख (प्राचीनम्) या उत्तराभिमुख (उदीचीनम्) होगी। यथा, जब पूर्व और पश्चिम में जल छिड़केंगे, तब दक्षिण से उत्तर की ओर गति होगी और जब उत्तर में जल छिड़केंगे, तब पश्चिम से पूर्व की ओर गति होगी। जब चारों ओर जल छिड़केंगे, तब पूर्व-दक्षिण कोण से आरंभ करके दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पूर्व इस क्रम से प्रदक्षिणा की तरह जल-प्रोक्षण करते चलेंगे और पूर्व-दक्षिण कोण पर जहाँ से आरंभ किया था वहीं पहुँचकर विराम करेंगे। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर इन तीन दिशाओं में दो-दो जल-पंक्ति तथा दक्षिण में एक जलपंक्ति बन जाएगी, जैसा कि नीचे के रेखा-चित्र से स्पष्ट है—




## जल-प्रोक्षण का तात्पर्य

यहाँ यह समझना है कि अमुक-अमुक मन्त्र से अमुक-अमुक दिशाओं में ही जल-प्रोक्षण क्यों करते हैं? अधिदैवत दृष्टि से अदिति पूर्वा सन्ध्या (उषा) का, अनुमति पश्चिमा सन्ध्या का और सरस्वती उत्तरायण सूर्य की प्रभा का वाची है। सविता सूर्य का वाचक है। पृथिवी अपनी धुरी पर घूमती है, जिससे अहोरात्र बनते हैं। हम पृथिवीवासियों को प्रतीत

यह होता है कि सूर्य आकाश में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है। वह हमारे गोलार्ध में प्रातः पूर्व में उदित हो सायं पश्चिम में अस्त होता है। जब यहाँ अस्त होता है, तब दूसरे गोलार्ध में उदित होता है और जब यहाँ उदित होता है, तब दूसरे गोलार्ध में अस्त होता है। सूर्य की इसी प्रातीतिक गति को लेकर यज्ञविधियाँ की जाती हैं। जैसे सूर्य पृथिवी की प्रातीतिक परिक्रमा करता है, वैसे ही चतुर्थ मन्त्र बोलकर यज्ञवेदी के चारों ओर जल छिड़का जाता है। जल-प्रोक्षण का प्रकार यह है कि अंजलि में जल लेकर बूँद-बूँद करके शनैः-शनैः छोड़ा जाता है।

अब चित्र में देखिए। यह एक अग्नि-जलीय रक्षा-कवच बन गया है। मध्य में यज्ञ-कुण्ड की अग्नि है, जिसके तीन ओर दोहरी तथा एक ओर इकहरी जल-पंक्ति है। इसका साम्य मनुष्य के मस्तिष्क से हो जाता है, जिसे वेद में 'अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्न चमस'[१] कहा गया है—अर्थात् ऐसा पात्र जिसमें छिद्र नीचे की ओर तथा पृष्ठ ऊपर की ओर है। नीचे दक्षिण[२] में आभ्यन्तर जल-पंक्ति न होने से नीचे से यह सच्छिद्र है। मनुष्य के मस्तिष्क में जो अग्नि-तत्त्व विद्यमान है, उसके चारों ओर हमें सौम्यता का घेरा देना है, जो यहाँ यज्ञाग्नि को जल-बिन्दुओं से वेष्टित करने की विधि से सूचित होता है।

यजुर्वेद का एक मन्त्र है—

**हिमस्यं त्वा जरायुणाऽग्ने परिं व्ययामसि।**
**पावको अस्मभ्यंᳪ शिवो भंव ॥**[३]

---

१. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अथर्व० १०.८.९; तुलना : श० ब्रा० १४.५.२

२. कहीं-कहीं वेद में दक्षिण को अधर कहा है; यथा, ऋग् १०.३६.१४ मानचित्र में भी दक्षिण दिशा नीचे ही आती है।

३. यजु० १७.५

अर्थात् हे अग्नि, हम तुझे बर्फ की झिल्ली से घेर देते हैं। तू हमारे लिए पवित्रकर्ता और सुखदायक हो।

अग्नि पवित्रतादायक और सुखशान्तिदायक तभी हो सकता है, जब उसे बर्फ की झिल्ली से ढका जाए। तभी अग्नि और सोमतत्त्व का संतुलन रह सकता है। अन्यथा अग्नितत्त्व अधिक होकर संसार में संहार, अशान्ति, उपद्रव कराने में कारण बनता है। यज्ञकुण्ड की अग्नि के चारों ओर जल का घेरा देने का तात्पर्य भी यही है। इसी से मिलता-जुलता मन्त्र अथर्ववेद का है, जिसमें अग्निमय शाला (हवेली) को बर्फ की झिल्ली से ढकने की बात है—

**हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।**
**शीतह्रदा हि नो भुवो ऽग्निष्कृणोतु भेषजम्॥**[1]

'हे अग्निमय शाला, सरोवर के मध्य में बनाकर हम तुझे बर्फ की झिल्ली से ढक देते हैं। शीत से यदि कोई व्याधि उत्पन्न होगी, तो अग्नि से उसका इलाज करेंगे।' यहाँ भी हिम और अग्नि अर्थात सोमतत्त्व और अग्नितत्त्व का संतुलन वर्णित है। अग्निमय यज्ञकुण्ड के चारों ओर जल का घेरा देना इसीका परिचायक है।

जीवन में अकेला आग्नेय तत्त्व ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ जलीय या सौम्य तत्त्व का होना भी आवश्यक है। यह जगत् अग्नि और सोम तत्त्वों के मेल से ही बना है—**अग्नीषोमात्मकं जगत्**[2]। जीवन-यज्ञ या कोई भी यज्ञ अग्नि और सोम तत्त्वों के योग से ही चलता है—**अग्नीषोमाभ्याँ यज्ञश्चक्षुष्मान्**[3]। जल और ज्योति के संयोग से ही वर्षा या फलप्राप्ति होती है—**अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते।**[4] मनुष्य के स्वभाव में भी अग्नि और शीतलता

---

१. अथर्व० ६.१०६.३
२. बृहज्जाबालोपनिषद् २.३
३. काठ० सं० ५.१
४. निरु० २.१७

दोनों की आवश्यकता है। वेद कहता है—

**'अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषम्'**[१]

अर्थात् अपने अन्दर अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के उत्कर्ष से ही मैं जीवन में विजय-लाभ कर सकता हूँ। इसी बात की सूचक यह विधि है। जल से घिरी हुई यज्ञ-वेदी समुद्र-वसना पृथिवी के सदृश हो जाती है—**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः**[२]। इस प्रकार यज्ञवेदि में सम्पूर्ण पृथिवी को देखना अग्निहोत्री का कर्तव्य है। तभी कहा है कि यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बाँधनेवाली नाभि है—**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**।[३]

इन चार मन्त्रों में एक-एक देवता से यज्ञ का अनुमोदन करने की प्रार्थना की गई है। चार देवता हैं अदिति, अनुमति, सरस्वती और सविता। अदिति अधिदैवत में प्राची की उषा है। उषाएँ यज्ञ की प्रेरक हैं। उनका अपना चरित्र भी यज्ञमय है। वे सूर्य को उत्पन्न करती हैं, यज्ञ को उत्पन्न करती हैं, यज्ञाग्नियों को प्रज्वलित करती हैं—**अजीजनन् सूर्यं यज्ञमग्निम्**।[४] अदिति शब्द नञ्पूर्वक 'दो अवखण्डने' धातु से बनता है। अध्यात्म में अखण्डनीय, अजर-अमर जीवात्म-शक्ति यहाँ अदिति शब्दवाच्य है। यदि आत्मा का समर्थन प्राप्त न हो तो मनुष्य यज्ञ में प्रवृत्त नहीं रह सकता। अदिति आत्मा-यज्ञ की दिव्य नौका है—

**सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।**
**दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥**[५]

यह आत्म-शक्तिरूपिणी यज्ञ की नाव[६] सुरक्षा करने

---

१. यजु० २.१५
२. यजु० २३.६२
३. यजु० २३.६२
४. ऋग्० ७.७८.३
५. यजु० २१.६
६. दैवीं यज्ञमयीं नावम्—उवट। नावं यज्ञरूपाम्—महीधर

वाली है, विशाल है, तेजोमयी है, निष्पाप है, उत्तम शरण देनेवाली है, शुभ मार्गदर्शन करनेवाली है, यज्ञांगरूप उत्तम चप्पुओं वाली है, कभी न चूनेवाली है। यदि हम कल्याण चाहते हैं तथा अपने यज्ञ को प्रवृत्त रखना चाहते हैं तो हमें इस पर सवार होना चाहिए। अतएव अदिति को यज्ञ का सिर कहा गया है।[१]

दूसरी 'अनुमति' अधिदैवत में रक्ताभ पश्चिम सन्ध्या है। उसका चरित्र भी यज्ञमय है। वह भी यज्ञ को उद्‌बुद्ध करती है। अध्यात्म में अनुमति है यज्ञ के अनुकूल निश्चय करनेवाली बुद्धि, जिसमें मनन-चिन्तनशील मन भी सम्मिलित है। इसके सम्बन्ध में वेद कहता है—

**अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।**
**अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥**[२]

अर्थात् अनुकूल निश्चय करनेवाली बुद्धि विद्वानों में हमारे यज्ञ का अनुमोदन करे। वह और हविर्वाहक यज्ञाग्नि दोनों मुझ यज्ञकर्ता के लिए यज्ञसाधक हों।

तीसरी 'सरस्वती' अधिदैवत में उत्तरायण सूर्य की प्रभा है। यह भी अपने चरित्र और गुणों से यज्ञमयी तथा यज्ञ की प्रेरिका है। अध्यात्म में यह वाणी है। वाणी द्वारा मन्त्रोच्चारण करने से ही यज्ञ चलता है, वाणी से ही यज्ञ की महिमा का गान किया जाता है। अतः उसके द्वारा भी यज्ञ का अनुमोदन आवश्यक है। वेद कहता है—

**चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।**
**यज्ञं दधे सरस्वती॥**[३]

अर्थात् प्रिय-सत्य वचनों की प्रेरिका और सुमतियों को जागृत करनेवाली वाणी यज्ञ को धारण करती है।

चौथा 'सविता' अधिदैवत में सूर्य है। सूर्य द्वारा संवत्सर-

१. मखस्य शिरोऽसि। यजु० ११.५७
२. अथर्व० ७.२०.१
३. ऋग्० १.३.११

रूपी यज्ञ चलता है। सूर्य से हम भी यज्ञ की प्रेरणा लें। अध्यात्म में सविता प्रेरक परमेश्वर है।[1] उससे भी प्रार्थना की गई है कि आप मेरे अन्दर सदा यज्ञ की प्रेरणा करते रहें और मुझ यज्ञपति का मार्गदर्शन करते रहें। वह सविता परमेश्वर ही पूर्वोक्त तीनों आत्मा, मन–बुद्धि और वाणी को यज्ञ–समर्थन की शक्ति प्रदान करनेवाला है। वह 'गन्धर्व' अर्थात् आत्मा–रूप गौ को धारण करनेवाला है। वही 'केतपूः' मन, बुद्धि एवं विचारों को पवित्र करनेवाला है। वही वाचस्पति अर्थात् वाणी का स्वामी है। ये चारों देवता यदि हमारे यज्ञ का—बाह्य यज्ञ तथा आन्तरिक यज्ञ दोनों का—अनुमोदन करते रहें तो हमारा यज्ञ निर्विघ्न होकर निरन्तर चलता रह सकता है।

## दो आघार–आज्याहुतियाँ

**विधि**—यज्ञकुण्ड के उत्तर–भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण–भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उनका नाम 'आघारावाज्याहुती' है और जो कुण्ड के मध्य में दो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनको 'आज्यभागाहुती' कहते हैं।[2] घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा, मध्यमा, अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

**ओम् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम।**[3]

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर–भाग अग्नि में, और

---

१. 'सवितः सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरक परमेश्वर' इति यजुः १.२६ भाष्ये दयानन्दः। सुवति यज्ञादिषु शुभकर्मसु प्रेरयतीति सविता, षू प्रेरणे।

२. जिन्हें स्वामी जी ने 'आघारावाज्याहुती' कहा है, उन्हें कर्मकाण्ड के प्राचीन ग्रन्थों में 'आज्यभागाहुती' कहा गया है, तथा जिन्हें स्वामी जी ने 'आज्यभागाहुती' माना है, वे कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में 'आघाराहुती' नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रष्टव्य : संस्कारविधि के रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित आर्यसमाज–स्थापना शताब्दी–संस्करण में पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी।

४. तुलनीय : अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा। यजु० १०.५; अग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शो जुहुयात्। गोभिल गृह्य० १.८.४

**ओम् सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय—इदन्न मम।**

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण-भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देवें।

आघारं का अर्थ है मक्खन को अग्नि में तपाकर पिघलाया हुआ घृत।[१] होमादि में मन्त्र-विशेषपूर्वक देवताविशेष को घृत प्रदान करने की क्रिया भी आघार कहलाती है।[२] आघाराहुतियों में घृत प्रचुर मात्रा में होता है तथा यज्ञकुण्ड के उत्तर या दक्षिण दिशा में घृत-धारा को पश्चिम से पूर्व की ओर ले-जाते हुए डाला जाता है। इन दो आहुतियों के 'आघाराहुती' तथा 'आघारावाज्याहुती' (आघारौ-आज्याहुती) दोनों नाम हैं। ये आघाराहुतियाँ यज्ञ का सिर कही गई हैं।[३] शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि पूर्व-आघार ऋत है और उत्तर-आघार सत्य, इन्हें करनेवाला ऋत और सत्य को तथा ऋत और सत्य से जीतने योग्य जो कुछ भी है उसे जीत लेता है।[४] इनमें क्रमशः अग्नि और सोम को आहुति दी गई है। अग्नि सूर्य है, सोम चन्द्रमा; अग्नि यज्ञाग्नि है, सोम जल; अग्नि तैजस तत्त्व है, सोम अप्तत्त्व; अग्नि वाणी है, सोम मन।[५] अग्नि प्राण है, सोम रयि[६]। अग्नि प्राण है, सोम अपान।[७] अग्नि दिन है, सोम रात्रि।[८] अग्नि जीवात्मा है, सोम पाञ्चभौतिक देह। अग्नि परमेश्वर है, सोम

---

१. आघार्यते प्रदीप्यते प्रक्षार्यते वा स आघारः, घृ क्षरणदीप्त्योः।

२. आघारः कर्मणि घञ् घृते। भावे घञ्, होमादौ, मन्त्रविशेषेण देवताविशेषाय घृतदाने।—शब्दस्तोममहानिधिः।

३. शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदाघारः। श०ब्रा० १.४.५.५

४. श०ब्रा० ११.२.७.९

५. मनश्चैवास्य वाक् चाघारौ। श०ब्रा० ११.२.६.३

६. द्रष्टव्य : प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न १

७. प्राणापानौ-अग्नीषोमौ। ऐ० ब्रा० १.८

८. अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ। कौ०ब्रा० १०.३

प्रकृतितत्त्व। अग्नि और सोम ब्रह्मवर्चस् को देनेवाले हैं।[१] अग्नि और सोम के वीर्य से ही इन्द्र वृत्र के संहार में समर्थ होता है।[२] दोनों के नाम से अग्नि में आघाराहुति देते हुए हम दोनों को ही अपने मानस में प्रदीप्त करते हैं और दोनों का अपने जीवन में सामंजस्य रखने का संकल्प लेते हैं। अग्नि के नाम पर उत्तर में और सोम के नाम पर दक्षिण में आहुति इस कारण देते हैं, क्योंकि उत्तर दिशा आग्नेय है, दक्षिण दिशा सौम्य है।[३] सूर्य ज्यों-ज्यों उत्तरायण होता है, त्यों-त्यों गर्मी बढ़ जाती है और ज्यों-ज्यों दक्षिणायन होता है, त्यों-त्यों सर्दी बढ़ती है।

## ८. दो आज्यभागाहुतियाँ

**विधि—**

**ओं प्रजापतये स्वाहा[४]। इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥**
**ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥**

—इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति दे।

आज्यभाग का अर्थ है घृतांश। आज्यभाग की आहुतियाँ प्रजापति और इन्द्र को दी गई हैं। प्रजापति सब प्रजाओं का उत्पादक और रक्षक परमात्मा[५] है, इन्द्र जीवात्मा[६] है।

---

१. अग्नीषोमौ वै ब्रह्मवर्चसस्य प्रदातारौ। मै०सं० २.१.४; काठ० सं० १०.२
२. अग्नीषोमाभ्यां वै वीर्येणेन्द्रो वृत्रमहन्। मै०सं० २.१.३; ४.३.१; काठ०सं० २४.७.३२
३. उत्तरमाग्नेयं दक्षिणं सौम्यम्। आश्व० गृह्य० १.१०.१४
४. किन्हीं के मत में यह आहुति मौन रूप से देनी चाहिए। द्रष्टव्य : युधिष्ठिर मीमांसक : 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' संस्करण १९८०, पृ० ८४-८५। परन्तु स्वामी जी ने यहाँ ऐसा विधान नहीं किया है।
५. ब्रह्म वै प्रजापतिः। श०ब्रा० १३.६.२.८; प्रजापतिः प्रजापालक ईश्वरः। यजु० १४.३ द० भा०
६. इंद्रियमिंद्रलिङ्ग० पा० ५.२.९३ इति सूत्राशयादिन्द्रशब्देन जीवस्यापि ग्रहणम्। ऋग्० १.२.६ द० भा०

आंतरिक या बाह्य यज्ञ दोनों को ही निरंतर प्रवृत्त रखने के लिए सदा परमात्मा और जीवात्मा को स्मरण रखना आवश्यक है, अन्यथा मनुष्य बहिर्मुख एवं विषयों से आकृष्ट होकर यज्ञभावना से विचलित हो सकता है। प्रजापति और इन्द्र को ब्रह्मलोक का द्वारपाल कहा गया है।[१] इनसे वेदी के मध्य में आहुति इस कारण दी जाती है क्योंकि ये सृष्टि के केन्द्रभूत हैं।

अधिदैवत में प्रजापति सूर्य[२] है और इंद्र अंतरिक्षस्थानीय वायु[३]। ताप और वायु से ही जड़-चेतन सृष्टि-यज्ञ चल रहा है। अधिभूत में प्रजापति प्रजापालक राजा[४] है, इन्द्र वीर सेनापति है,[५] जिससे राष्ट्र-यज्ञ चल रहा है।

आज्याभागाहुतियों के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ये दो आहुतियाँ यज्ञ के दो चक्षु हैं, इन्हें यथाविधि करनेवाला यजमान इहलोक और परलोक दोनों में चक्षुष्मान् हो जाता है।[६] प्रथम आज्यभाग भूतकाल है, उत्तर आज्यभाग भविष्यत्काल है। इसे करनेवाले का भूत, भविष्य और बीच का वर्त्तमान उज्ज्वल हो जाता है।[७] सचमुच मंत्रों में जो भावना निहित है, उसका ध्यान करते हुए यज्ञ करें तो यज्ञकर्ता का जीवन उज्ज्वल और यशोमय हो सकता है। वर्तमान और भविष्य तो उज्ज्वल हो ही जाता है, उसके भूत जीवन में यदि कोई दोष भी रहा है तो भी लोग उसकी ओर ध्यान न देकर उसकी यशोगाथा का ही गान करते हैं। एवं भूत भी उज्ज्वल हो जाता है।

---

१. इन्द्रप्रजापती (ब्रह्मलोकस्य) द्वारपालौ। शां० आ० ३.३, कौ० ब्रा० उप० १.३
२. अथो एष वै प्रजापतिर्योऽसौ (आदित्यः) तपति। जै० ब्रा० २.३७०
३. यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः। श०ब्रा० ४.१.३.१९
४. प्रजापतिः प्रजापालकः सभेशो राजा। यजु० १९.७५ द०भा०
५. इन्द्र शत्रूणां विदारयितः (सेनापते)। ऋग्० १.८४.४ द०भा०
६. श०ब्रा० १.६.३.३८, ४१
७. श०ब्रा० ११.२.७.१३

## ९. प्रधान होम की आहुतियाँ[1]

### ( क ) प्रातःकालीन आहुतियाँ ( चार )

**विधि**—नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें—

**ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥**
**ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥**
**ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥**
**ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।**
**जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥**

(सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (ज्योतिः) अनुपम ज्योति है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (सूर्यः) सूर्य कहलाती है। (स्वाहा) इनकी मैं सु-स्तुति करता हूँ/करती हूँ, और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ १ ॥

(सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (वर्चः) ब्रह्मवर्चस् को देनेवाला है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (वर्चः) ब्रह्मवर्चस् को देनेवाली है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूँ/करती हूँ, और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ २ ॥

(ज्योतिः) यह आकाश में उदित प्रातःकालीन ज्योति (सूर्यः) सूर्य है। (सूर्यः) परमात्मा-रूप सूर्य भी (ज्योतिः) ऐसी ही ज्योति है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूँ/करती हूँ, और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ ३ ॥

---

१. अब तक सुगन्धित घृत की आहुतियाँ दी जा रही थीं। यहाँ से प्रधान आहुतियाँ सुगन्धित घृत से तथा उसके अतिरिक्त जो भी सुगन्धित द्रव्य, पुष्टिकारक द्रव्य, मिष्ट द्रव्य एवं रोगनाशक ओषधियों के मिश्रण से हव्य और पाक आदि तैयार कर रखा हो, उससे दी जा सकती हैं। इन चारों प्रकार के हव्यों के लिए द्रष्टव्य : संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण।

(देवेन[1]) प्रकाशक (सवित्रा[2]) सर्वोत्पादक प्रेरक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के साथ (सजूः[3]) समान प्रीति वाला, तथा (इन्द्रवत्या[4] उषसा) प्राणमयी उषा के साथ (सजूः) समान प्रीति वाला (सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (जुषाणः) हमसे प्रीति या अनुकूलता रखता हुआ (वेतु[5]) हमारी आहुति का भक्षण करे तथा हमसे रोगादि को दूर करे। (स्वाहा) उसके प्रति मैं आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ ४॥

यजुर्वेद तृतीय अध्याय के मन्त्र ९ और १० के शतपथ ब्राह्मण[6] व कात्यायन श्रौतसूत्र[7] आदि के अनुसार दो-दो भाग कर लिये गए हैं—एक भाग प्रातःकालीन अग्निहोत्र में और दूसरा भाग सायंकालीन अग्निहोत्र में विनियुक्त कर लिया गया है। यजुर्वेद के मूल मन्त्र इस प्रकार हैं—

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ ९॥

---

१. दिवु कान्त्यर्थः। 'देवेन सूर्यादिप्रकाशकेन' यजु० ४.१० द०भा०
२. सर्वस्य जगद् उत्पादकेनेश्वरेण, सर्वान्तर्यामिना जगदीश्वरेण। यजु० ४.१० दया०भाष्य। षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः। स०प्र०, समु० १। उत्तमगुणकर्मस्वभावेषु प्रेरकेश्वर, यजु० ३०.३ द०भा०।
३. सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जोषणं जूः, समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः—महीधर। यः समानं जुषते सेवते सः—दया०।
४. प्राण एवेन्द्रः। श०ब्रा० १२.९.१.१४
५. वेतु प्राप्नोतु, आहुतिं भक्षयतु, रोगादीन् अस्यतु वा। वी गतिव्याप्तिप्रजन-कान्त्यसनखादनेषु।
६. श०ब्रा० २.३.१.३०-३८।
७. का०श्रौ०सू० ४.१४.१४-१५; ४.१५.९-११

**सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।**
**जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।**
**सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या**
**जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥ १०॥**

प्रातःकालीन मन्त्र सूर्य-सम्बन्धी हैं। प्रातः अग्निहोत्र सूर्योदय के पश्चात् किया जाता है,[१] अतः सूर्य के मन्त्रों द्वारा आहुति दी जाती है। सूर्य का अर्थ जहाँ प्रातः उदित होनेवाला प्राकृतिक सूर्य है, वहाँ साथ ही यह परमेश्वर का वाची भी है।[२] जहाँ अग्निहोत्र-कर्ता उदित होते हुए प्राकृतिक सूर्य पर दृष्टि डालता है, वहाँ वह परमेश्वर की ज्योति को भी स्मरण करता है। द्वितीय मन्त्र में दोनों को वर्चस्वी एवं वर्चस्विता को देनेवाला कहा है। प्रथम और तृतीय मन्त्र में शब्द वे ही हैं, किन्तु उनके क्रम में अन्तर होने से उद्देश्य और विधेय बदल गए हैं, जिससे तात्पर्य में भी अन्तर आ जाता है। चतुर्थ मन्त्र में सूर्य की उपयोगिता को देखते हुए कहा है कि वह सूर्य हमारी आहुति का भक्षण करे तथा हमसे रोगादि अनिष्टकारियों को दूर करे। यज्ञ से जो हविर्धूम उठता है, वह सूर्यकिरणों द्वारा विश्लेषण किया जाकर अधिक स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। उस सूर्य के दो विशेषण दिये गए हैं। प्रथम विशेषण **'देवेन सवित्रा सजूः'** से ज्ञात होता है कि सूर्य अपने-आप में स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु परमेश्वर की ही शक्ति से शक्तिमान् होता है—**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**[३]। दूसरे विशेषण **'इन्द्रवत्या उषसा सजूः'** में कहा है कि वह प्राणमयी उषा का सहचर है। इससे यह बात सूचित होती है

---

१. द्रष्टव्य : का०श्रौ०सू० ४.१५.१२,१३ तथा उस पर कर्क-टीका।
२. यौगिक दृष्टि से 'सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगत् तस्य चराचरात्मनः परमेश्वरस्य'—यजु० १.३१, द०भा०। अलंकारशास्त्र की दृष्टि से अतिशयोक्ति द्वारा परमेश्वर साक्षात् सूर्य है।
३. कठोपनिषद् ५.१५।

कि यजमान और यजमानपत्नी सूर्य और उषा के समान तेजस्वी एवं प्राणवान् हों।

## ( ख ) सायंकालीन आहुतियाँ ( चार )

**विधि**—नीचे लिखे हुए मन्त्रों से सायंकाल में अग्निहोत्र करें—

**ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥**
**ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥**
**ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥**
—इस तृतीय मन्त्र को मन से उच्चारण करके आहुति दें।
**ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।**
**जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥**

(अग्निः) सायंकालीन अग्नि (ज्योतिः) अनुपम ज्योति है। (ज्योतिः) परमात्मज्योति भी (अग्निः) अग्नि कहलाती है[1]। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूँ/करती हूँ, और इनके नाम से आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ १ ॥

(अग्निः) सायंकालीन अग्नि (वर्चः) ब्रह्मवर्चस् को देनेवाला है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (वर्चः) ब्रह्मवर्चस् को देनेवाली है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूँ/करती हूँ, और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ २ ॥

(अग्निः) जीवात्मा[2] (ज्योतिः) ज्योति है, (ज्योतिः) परमात्मज्योति भी (अग्निः) अग्नि कहलाती है। (स्वाहा) इनका मिलन कल्याणकारी है, इनके नाम से आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ ३ ॥

(देवेन) प्रकाशक (सवित्रा) सर्वोत्पादक, सर्वान्तर्यामी प्रेरक परमात्मा के साथ (सजूः) समान प्रीतिवाला तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) प्राण-मयी रात्रि के साथ (सजूः) समान

---

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्० १.१६४.४६
२. आत्मैवाग्निः। श०ब्रा० ६.७.१.२०

प्रीतिवाला (अग्निः) यज्ञाग्नि (वेतु) आहुति का भक्षण करे तथा रोग, पाप आदि का निवारण करे। (स्वाहा) उसके प्रति मैं आहुति देता हूँ/देती हूँ॥ ४॥

सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त-काल में किया जाता है[१]। सायं सूर्य अग्नि को अपना प्रतिनिधि छोड़कर स्वयं अस्त हो जाता है।[२] अतः सायं अग्निहोत्र में उपर्युक्त आग्नेय मन्त्र पढ़े जाते हैं। यहाँ भी अग्नि-ज्योति के साथ परमात्म-ज्योति को स्मरण किया गया है तथा वर्चस् की प्रार्थना भी की गई है। दोनों कालों में वर्चः-सम्बन्धी मन्त्रों से होम करने का लाभ बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि इससे यजमान ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है।[३] तृतीय मन्त्र प्रथम मन्त्र के ही समान है, किन्तु उसका अर्थ उपर्युक्त प्रकार से भिन्न करके यहाँ भौतिक अग्नि, परमात्माग्नि तथा जीवात्माग्नि तीनों गृहीत करने चाहिएँ। भौतिक यज्ञाग्नि में हवि देते हुए हम जीवात्माग्नि और परमात्माग्नि के मिलन की भी कामना करते हैं। तृतीय मन्त्र प्रथम मन्त्र की ही पुनरुक्ति करके बना है। मूल यजुर्वेद के मन्त्र में यह पुनरुक्ति नहीं हैं। इस तृतीय मन्त्र को मन से उच्चारण करके आहुति देने का विधान महर्षि ने किया है।[४] मौन आहुति की एक व्याख्या यह हो सकती है कि इस मन्त्र में अग्नि का अन्तर्दर्शन किया गया है; साधक अन्तर्मुख होकर अग्नि का आत्मा और परमात्मा रूप में दर्शन करता है। इस मानस प्रक्रिया के अनुष्ठानार्थ वाणी को क्षणभर के लिए

---

१. यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेति अथ 'अग्निर्ज्योतिः' यदा सूर्य उदेत्यथ 'सूर्यो ज्योतिः' श०ब्रा० २.३.१.३०

२. 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति' इति तित्तिरिश्रुतिः। द्रष्टव्य : मही० भाष्यम् यजु० ३.९।

३. 'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च' इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवती य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। श०ब्रा० २.३.१.३१। तुलना : अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य का०श्रौ०सू० १.१४.१५।

४. तुलनीय : तूष्णीमुत्तरां भूयसीम्। का०श्रौ०सू० ४.१४.१७।

विराम दे दिया जाता है।[1] प्रातःकाल के चतुर्थ मन्त्र में उषा को इन्द्रवती तथा सायंकाल के चतुर्थ मन्त्र में रात्रि को इन्द्रवती कहा गया है। इन्द्र का अर्थ प्राण करने पर दोनों को इन्द्रवती कहना सार्थक हो जाता है। उषा आग्नेय प्राण से युक्त है तथा रात्रि सौम्य प्राण से। प्रातःकालीन और सायंकालीन आहुति के ये सब मन्त्र शतपथ में पुत्रोत्पत्ति प्रदान करनेवाले कहे गए हैं।[2]

### ( ग ) प्रातः-सायं दोनों काल की समान आहुतियाँ ( आठ )

**विधि**—आठ मन्त्रों से प्रातः-सायं दोनों समय आहुति दें—

**प्रथम चार मन्त्र—**

**ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।**
**इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम॥**
**ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा।**
**इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम॥**
**ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।**
**इदमादित्याय व्यानाय—इदन्न मम॥**
**ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः**
**प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।**
**इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—**
**इदन्न मम[3]॥**

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक का समाधान इस प्रकार है—प्रातः-सायं दोनों समय की आहुतियों की संख्या बराबर करने के लिए प्रथम मन्त्र की पुनरुक्ति की है। जामित्व='एक जैसा' दोष की निवृत्त्यर्थ इस मन्त्र से मन में उच्चारण करके आहुति दी जाती है। दैनिक-अग्निहोत्रविधि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृ० ८९।

२. श०ब्रा० २.३.१.३२, ३३, ३७, ३८

३. ऋ०भा०भू० में प्रदत्त सूचना के अनुसार ये चारों मन्त्र तैत्तिरीय उपनिषद् का आशय लेकर एकत्र किये गए हैं। द्रष्टव्य : तै०उ०, शिक्षावल्ली, अनु० ५।

(ओम्) परमेश्वर (भूः) सत्स्वरूप है, (अग्नये)[१] इस अग्रणी, सब यज्ञों में आगे लाए जानेवाले, वेदादि शास्त्रों और विद्वानों से प्राप्तव्य एवं सत्करणीय, तथा (प्राणाय)[२] सबको जीवन देनेवाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति–दान के प्रतीक से आत्म–समर्पण करता हूँ/करती हूँ। (इदं) यह समर्पण (अग्नये प्राणाय) अग्नि और प्राण नाम वाले उस परमेश्वर के लिए है; (इदं न मम) यह मेरा नहीं है अर्थात् यह समर्पण अहंकार के साथ नहीं किया गया है।

(ओम्) परमेश्वर (भुवः) चित्स्वरूप है, (वायवे)[३] उस सब जगत् को जानने तथा धारण करनेवाले तथा (अपानाय)[४] मुमुक्षु एवं मुक्त अपने धर्मात्मा सेवकों के सब दुःखों को दूर करनेवाले दयालु परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति–दान के प्रतीक से आत्म–समर्पण करता हूँ/करती हूँ। (इदं) यह समर्पण (वायवे अपानाय) वायु और अपान नाम वाले परमेश्वर के लिए है; (इदं न मम) यह मेरा नहीं है अर्थात् इस समर्पण को मैं अहंकार के साथ नहीं कर रहा हूँ।

(ओम्) परमेश्वर (स्वः) आनन्दस्वरूप है।

---

तैत्ति०आ० १०.२ में भी इन मन्त्रों से कुछ मिलती–जुलती रचना है, किन्तु वहाँ प्राण, अपान, व्यान के स्थान पर पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ का नाम है।

---

१. अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (निरु० ७.१४)। अञ्च्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः। पं० म० विधि, गुरुमन्त्र–व्याख्या।

२. प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव। पं० म० य० विधि, गुरुमन्त्र–व्याख्या।

३. यो वाति जानाति धारयति अनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स वायुः। स चेश्वर एव भवितुमर्हति। वही।

४. यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वदुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति। वही

(आदित्याय)[१] उस अविनाशी स्वप्रकाशस्वरूप (व्यानाय)[२] सकल जगत् को चेष्टा करानेवाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुतिदान के प्रतीक से आत्म-समर्पण करता हूँ/करती हूँ। (इदं) यह समर्पण (आदित्याय व्यानाय) आदित्य और व्यान नाम वाले परमेश्वर के लिए है; (इदं न मम) यह मेरा नहीं है अर्थात् इस समर्पण को मैं अहंकार के साथ नहीं कर रहा हूँ।

(ओम्) परमेश्वर (भूः भुवः स्वः) सच्चिदानन्दस्वरूप है। (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्य नामों वाले, तथा (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान नामों वाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति-दान के प्रतीक के साथ आत्म-समर्पण करता हूँ/करती हूँ। (इदं) यह समर्पण (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्य नामों वाले तथा (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान नामों वाले परमेश्वर के लिए है; (इदं न मम) यह समर्पण मेरा नहीं है अर्थात् इसे मैं अहंकार के साथ नहीं कर रहा हूँ।

## एक अन्य व्याख्या

इन मन्त्रों की पूर्वोक्त परमेश्वर-परक व्याख्या के अतिरिक्त निम्नलिखित व्याख्या भी हो सकती है—

१. भूमिष्ठ अग्नि के लिए तथा प्राण के लिए मैं आहुति देता हूँ/देती हूँ। वैदिक साहित्य के अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य नामक दिव्य वस्तुएँ निवास करती हैं। भूमिष्ठ प्रत्येक पदार्थ में

---

१. न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः, स०प्र०, समु० १। "जिसका कभी नाश न हो और जो स्वप्रकाशस्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है"—आर्याभि० २.४. में यजु० ३२.१ की व्याख्या।

२. व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति। पं०म० विधिं, गुरुमन्त्रव्याख्या।

अग्नि-तत्त्व रहता है। ओषधियों में, जलों में, पाषाणों में, पुरुषों में, गौओं में, अश्वों में सबमें अग्नि है—

**अग्निर्भूम्या ओषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।**
**अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥[1]**

स्वाहापूर्वक आहुति देते हुए उस अग्नितत्त्व को धारण कर हमें तेजस्वी बनना है। इसीलिए कहा है कि अग्नि को साड़ी की तरह पहने हुए स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ानेवाली मातृभूमि हमें तेजस्वी और क्रियाशील बना दे—

**अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥[2]**

भूमि के आग्नेय गुण को धारण करने से हमारा प्राण बलवान् होगा और प्राण के बलवान् होने पर हम सर्वविध पुष्टि को प्राप्त कर सकेंगे।

२. आकाश-संचारी वायु के लिए तथा अपान के लिए मैं आहुति देता हूँ/देती हूँ। आकाशेय शुद्ध वायु के सेवन से हम अपने शरीर के अपान को अर्थात् मलों एवं शरीरस्थ दोषों के बाहर निकालने की शक्ति को प्रबल कर सकते हैं।

३. द्युलोकस्थ आदित्य के लिए तथा व्यान के लिए मैं आहुति देता हूँ/देती हूँ। द्युलोकस्थ आदित्य अपनी रश्मियों को पृथिवी पर भेजता है, जिससे जड़-चेतन में व्यान अर्थात् सब प्रकार की चेष्टा या गति आती है। शरीरस्थ 'व्यान' का कार्य भी अंगों की चेष्टा कराना है। सूर्य के सेवन से हम अपने 'व्यान' को प्रबल बनाएँ, जिससे शरीर की और मन की निश्चेष्टता दूर हो।

४. चतुर्थ मन्त्र में इन्हीं भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ, अग्नि-वायु-आदित्य तथा प्राण-अपान-व्यान को समन्वित रूप से स्मरण किया गया है। अकेला-अकेला भूलोक, अन्तरिक्ष-

---

१. अथर्व० १२.१.१९
२. अथर्व० १२.१.२१

लोक या द्युलोक, अकेले-अकेले अग्नि, वायु या आदित्य और अकेले-अकेले प्राण, अपान या व्यान हमें विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकते। इनका पारस्परिक सामंजस्य होना आवश्यक है, यह निर्देश इस मन्त्र से प्राप्त होता है।

### पंचम मंत्र

**ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥**[1]

(ओम्) परमेश्वर (आपः) आपः, (ज्योतिः) ज्योति, (रसः) रस (अमृतम्) अमृत, (ब्रह्म) ब्रह्म, (भूः) भूः, (भुवः) भुवः, (स्वः) स्वः, (ओम्) ओम् इन सब नामोंवाला है। स्वाहा[2] अग्नि में आहुति देते हुए हम उसकी स्तुति करते हैं।

ये सब परमेश्वर के नाम हैं। सर्वव्यापक होने से वह 'आपः[3]' है। ज्योतिष्मान् होने से वह 'ज्योतिः' है। भक्तजनों द्वारा रसनीय होने से वह 'रस[4]' है। अमर होने से वह 'अमृत[5]' है। सबसे महान् होने से उसका नाम 'ब्रह्म[6]' है। सत्स्वरूप होने से 'भूः', चित्स्वरूप होने से 'भुवः' तथा आनन्दस्वरूप होने से 'स्वः' है। सबका रक्षक, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्ता आदि होने से उसका नाम 'ओम्[7]' है। ऐसे

---

१. तुलनीय : आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्, इति। तै०आ० १०.१५, [१०.२७ प्राणायामप्रकरण में]।
२. तस्यै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः। प० म० विधि, देवयज्ञ।
३. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजु० ३२.१। आपः सर्वत्र व्यापकत्वादिति—दया०।
४. रस्यते आस्वाद्यते भक्तजनैरिति रसः, रस आस्वादनस्नेहनयोः। 'रसो वै सः' तै०उप०, ब्रह्मवल्ली ७। 'रस ओंकारः' जै० ब्रा० २.७८।
५. अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्। जै०उ०ब्रा० १.८.१.१०
६. सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म। स०प्र०, समु० १
७. अवति रक्षतीत्योम्। 'अवतेष्टिलोपश्च' उ० १.१४२ इति मन् प्रत्ययः तस्य टिलोपो धातोरुपधावकारयोरूठ् च। यद्वा 'अ-उ-म्' एषामक्षराणां संयोगेन

परमेश्वर का हम सूक्ति-गान[१] करते हैं।

**द्वितीय अर्थ**—(आपः) नदियाँ, (ज्योतिः) अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि की ज्योति, (रसः) ओषधियों का रस अथवा गोरस, (अमृतम्[२]) घृत, प्राण, दीर्घायुष्य या मुक्ति, (ब्रह्म[३]) वेद, (भूः) भूमि, (भुवः) अन्तरिक्ष, (स्वः) द्युलोक और इन सबमें जिसका कर्त्तृत्व दिखाई देता है वह (ओम्) परमेश्वर, (स्वाहा) इन सबके गुणों का हम कीर्तन करते हैं तथा अपने जीवन में इनसे यथायोग्य लाभ उठाते हैं।

**अन्त के तीन मन्त्र**

**ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।**
**तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥[४]**
**ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।**
**यद् भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा॥[५]**
**ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**
**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा[६]॥**

---

ओमिति। विस्तार के लिए द्रष्टव्य : स० प्र०, समु० १।

---

१. स्वाहा=सु आह।
२. 'अमृतं वा आज्यम्' तै० आ० २.१८.२; 'अमृतं वै प्राणाः' तै०सं० २.६.८.७; गो० ब्रा० २.१.१३, श०ब्रा० ७.४.२.२१; 'अमृतम् आयुः' मै०सं० २.२.२; 'स्वर्देवा अगाम, अमृता अभूम' मै० सं० १.११.३।
३. वेदो ब्रह्म। जै०उ०ब्रा० ४.११.४.३
४. यजु० ३२.१४
५. यजु० ३०.३; मन्त्र में 'स्वाहा' पद नहीं है।
६. यजु० ४०.१६, 'स्वाहा' पद नहीं है। यजु० ७.४३ 'स्वाहा' पद भी है।

## षष्ठ मन्त्र

(अग्ने) हे ज्ञान-प्रकाश से युक्त परमेश्वर और भौतिक प्रकाश से जाज्वल्यमान यज्ञाग्नि, (यां मेधां) जिस बुद्धि को (देवगणाः) विद्वज्जन (पितरः च) और हमारे माता-पिता आदि ज्ञानवृद्ध या वयोवृद्ध जन (उपासते) समीप से सेवन करते हैं, (तया मेधया) उस बुद्धि से (अद्य) आज (मां) मुझे (मेधाविनं) प्रशस्त बुद्धिवाला (कुरु) कर। (स्वाहा) एतदर्थ हे परमेश्वर, मैं तुझे आत्मसमर्पण करता हूँ/करती हूँ, तथा हे यज्ञाग्नि, तुझमें आहुति देता हूँ/देती हूँ।

इस मन्त्र में बुद्धि की याचना की गई है। बुद्धि सबसे बड़ा धन है। अतएव गायत्री मन्त्र में भी बुद्धि की ही प्रार्थना है। परमेश्वर सबसे बड़ा बुद्धि का स्रोत है। वह स्वयं भी परम मेधावी है, जो अपने बुद्धिकौशल से इस अद्‌भुत जगत् की रचना करता है। यज्ञाग्नि भी बुद्धि को प्रदान करता है। मस्तिष्क पर क्रिया करनेवाली ओषधियों की आहुति से तथा अग्नि के तेज का ध्यान करने से मेधा-शक्ति प्रबल होती है। अतएव अग्नि से मेधाबुद्धि की प्रार्थना की गई है। अग्नि अचेतन है, अतः उससे प्रार्थना का अभिप्राय यह होता है कि हम अग्निहोत्र करके अपनी बुद्धि को बढ़ाएँ। इस मन्त्र पर यजुर्वेद में महर्षि दयानन्द का भाष्य इस प्रकार है—

हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशरूप होने से विद्या के जतानेहारे ईश्वर वा अध्यापक विद्वान् (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करनेहारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन[1] को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं, (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझको (अद्य) आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धनवाला (कुरु) कीजिए।

---

१. 'मेधां प्रज्ञां धनं वा। मेधेति धननाम निघं० २.१०', संस्कृतपदार्थ।

## सप्तम मन्त्र

इस मन्त्र पर महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में भाषार्थ इस प्रकार है[१]—

हे (देव) उत्तमगुणकर्मस्वभावयुक्त (सवितः) उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में प्रेरणा देनेवाले परमेश्वर, आप हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुष्ट आचरण वा दुःखों को (परा सुव) दूर कीजिए और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारी धर्मयुक्त आचरण वा सुख है (तत्) उसको (नः) हमारे लिए (आ सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिए।

'सविता' का अर्थ राजा लेकर इस मन्त्र का राजा-परक अर्थ भी हो सकता है। अतएव स्वामी जी वाचकलुप्तोपमा अलंकार मानकर निम्न भावार्थ लिखते हैं—

**'यथोपासितो जगदीश्वरः स्वभक्तान् दुष्टाचारान्निवर्त्य श्रेष्ठाचारे प्रवर्तयति तथा राजापि प्रजा अधर्मान्निवर्त्य धर्मे प्रवर्तयेत् स्वयमपि तथा स्यात्',** अर्थात् जैसे उपासना किया हुआ जगदीश्वर अपने भक्तों को दुष्ट आचरण से निवृत्त कर श्रेष्ठ आचरण में प्रवृत्त करता है, वैसे राजा भी अधर्म से प्रजाओं को निवृत्त करे, धर्म में प्रवृत्त करे और आप भी वैसा होवे।

**सूर्यपरक अर्थ**—अग्निहोत्र-प्रकरण में इस मन्त्र का सूर्य-परक अर्थ भी ग्राह्य है। मन्त्र का देवता सविता है। सविता प्रातःकालीन तथा सायंकालीन दोनों समय के सूर्य को कहते हैं[२]। अतः दोनों समय के अग्निहोत्र में इसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

(देव सवितः) हे प्रकाशमान और प्रकाशक तथा

---

१. इस मन्त्र की महर्षिकृत व्याख्या संस्कारविधि तथा ऋ०भा०भू० के प्रार्थनाप्रकरण में तथा ऋग्० ५.८२.५ के भाष्य में भी द्रष्टव्य है।

२. द्रष्टव्य : 'उत रात्रीमुभयतः परीयसे' ऋग्० ५.८१.४, हे सवितः, तू रात्रि को दोनों ओर से अर्थात् प्रातः और सायं दोनों समय घेरता है।

स्वकिरणों को भूमि पर प्रेरित करनेवाले सूर्य, तू हमारे (विश्वानि दुरितानि) समस्त रोगों एवं आलस्य, निस्तेजस्कता आदि दोषों को (परा सुव) दूर कर दे, और (यद् भद्रं) जो आरोग्य-सुख, तेजस्विता आदि गुण हैं (तत्) उन्हें (नः आ सुव) हमें प्रदान कर। अचेतन सूर्य को संबोधन करने का आशय यह है कि सूर्य द्वारा हम दोषों को दूर करें और भद्र प्राप्त करें।

## अष्टम मन्त्र

इस मन्त्र का अर्थ संस्कारविधि के प्रार्थनाप्रकरण में निम्नलिखित है—

हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे (देव) सकल सुखदाता[1] परमेश्वर, आप क्योंकि (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, अतः कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि[2]) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये, और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्[3]) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि[4]) दूर कीजिए, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

**अग्निपरक अर्थ**—(अग्ने) हे अग्निहोत्र के अग्नि, तू (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) गतियों[5] को, मार्गप्रदर्शनों को

---

१. देवो दानाद् वा। निरु०

२. वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा, निरु० ५.१५। वयुनमिति प्रशस्यनामसु. प्रज्ञानामसु च पठितम्, निघं० ३.८,९।

३. हुर्छा कौटिल्ये इति धातोः 'हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च' उ० २.९२ इत्यानच् प्रत्ययः।

४. यु मिश्रणामिश्रणयोः लोटि मध्यमैकवचने 'युहि' इति प्राप्ते बहुलं छन्दसीति शपः श्लौ द्वित्वे हेर्धिः। ५. वी गत्यादिषु।

(विद्वान्) जाननेवाले के समान (अस्मान्) हमें (राये) तेज, ऊर्ध्वगामिता, स्वास्थ्य आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए (सुपथा नय) श्रेष्ठ मार्ग से चलने की प्रेरणा कर। (देव) हे प्रकाशमान व प्रकाशक अग्नि, (अस्मत्) हमारे जीवनों से (जुहुराणम् एनः) कुटिलताजन्य पाप को (युयोधि) पृथक् कर दे। एतदर्थ (ते) तेरे लिए हम (भूयिष्ठां) बहुत अधिक (नमः[२] उक्ति) हविष्यान्नप्रदान की उक्ति अर्थात् स्वाहा (विधेम) करें।

अग्नि व्रतपति है, अतः उससे प्रेरणा लेकर हम भी सत्पथ पर चलें। जैसे अग्नि अन्धकार से दूर रहता है, वैसे ही हम पापों से दूर रहें।

## १०. पूर्णाहुति

**विधि—**

**ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ १॥**
**ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ २॥**
**ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥ ३॥**

इन मन्त्रों से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक बार पढ़ के एक-एक करके तीन आहुति देवें।

(ओम्) परमेश्वर (सर्वं) सर्वशक्तिमान् है, तथा (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण है, किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित है, (स्वाहा) उसकी हम स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हैं तथा उसे पूर्ण आत्मसमर्पण करते हैं। १।

(ओम्) हे परमेश्वर, आपकी कृपा से (सर्वं) हमारा सम्पूर्ण दैनिक अग्निहोत्र (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण हो गया है। अतः (स्वाहा) हम पूर्णाहुति देते हैं। २।

(ओम्) हे परमेश्वर, आपकी कृपा से (सर्वं) हमारा सम्पूर्ण आत्मिक अग्निहोत्र (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण हो

२. नमः इत्यन्ननाम—निघं० २.७।

गया है। अतः (स्वाहा) हम पूर्णाहुति देते हैं। ३।

पूर्णाहुति में उपर्युक्त एक ही मन्त्र तीन बार उच्चारण किया गया है। एक बार परमेश्वर को आत्म-समर्पण की पूर्णाहुति, द्वितीय बार भौतिक अग्निहोत्र की पूर्णाहुति, तृतीय बार भौतिक अग्निहोत्र के साथ-साथ चलनेवाले आत्मिक अग्निहोत्र की पूर्णाहुति की भावना जागरित करनी उचित है।

**'सर्वं वै पूर्णम्'** का एक भाव यह भी है कि 'सब ही पूर्ण है' अर्थात् किसी वस्तु के सब अवयवों के मिलने से ही पूर्णता आती है।[1] कोई व्यक्ति यदि पूर्ण बनना चाहता है तो अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा सबका उत्कर्ष करे। इसी प्रकार समाज में भी सब व्यक्तियों के उत्तम गुण-कर्म-स्वभाववाला होने पर ही पूर्णता आ सकती है। अतः व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि को उन्नत करने का हम प्रयास करें—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" यह भावना अग्निहोत्र से इस प्रकार ग्रहण की जा सकती है कि अग्नि भी यजमान द्वारा दी गई हवि को अपने पास नहीं रख लेता, किन्तु उसे प्रज्वलन द्वारा सर्वोपयोगी बनाकर वायु के माध्यम से सबके कल्याण के लिए चारों ओर फैला देता है। तीन बार पूर्णाहुति-मन्त्र बोलकर इस भावना को हम हृदय में बद्धमूल करते हैं। पूर्णाहुति से सूचित यह भावना सम्पूर्ण अग्निहोत्र का निष्कर्ष है।

पूर्णाहुति के तीन मन्त्रों से निम्नलिखित प्रकार की तीन पूर्णताएँ भी सूचित होती हैं—

| | | |
|---|---|---|
| **शारीरिक पूर्णता** | **मानसिक पूर्णता** | **आत्मिक पूर्णता** |
| **वैयक्तिक पूर्णता** | **राष्ट्रीय पूर्णता** | **विश्वजनीन पूर्णता** |

**ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।**

---

१. द्रष्टव्य : पूर्णाहुतिं जुहोति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वं परिगृह्य सूया इति। श० ब्रा० ५.२.३.१

पञ्चम अध्याय

# बृहद् यज्ञ के विशिष्ट मन्त्र

आर्यसमाजों में तथा परिवारों में विशेष अवसरों पर बृहद् यज्ञ किया जाता है, जिसमें स्वामी दयानन्दकृत 'संस्कारविधि' के सामान्य प्रकरण में पठित निम्नलिखित १८ विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती हैं—

४ व्याहृति आहुति
१ स्विष्टकृत् होमाहुति
१ प्राजापत्याहुति
४ आज्याहुति
८ मांगलिक आज्याहुति

## इन आहुतियों का स्थान

यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि इन १८ आहुतियों का स्थान कौन-सा है? प्रचलन यह है कि चार आघारावाज्यभागाहुतियों के पश्चात् ये मन्त्र पढ़े जाते हैं और आहुतियाँ दी जाती हैं। परन्तु हमारी सम्मति में प्रधान होम ('सूर्यो ज्योति', 'अग्निर्ज्योति' से लेकर 'अग्ने नय सुपथा राये' की समाप्ति तक) के पश्चात् पुनः चार आघारावाज्य-भागाहुतियाँ देकर ये १८ आज्याहुतियाँ दी जानी चाहिएँ। यह विधान स्वयं श्री स्वामी जी ने ही किया है—

"चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके जब प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस कर्म में जितना-जितना होम

करना, करके पश्चात् पूर्वाहुति[१] पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागाहुति) देवें। पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें।....ये चार घी की आहुति देकर 'स्विष्टकृत् होमाहुति' एक ही है, वह घृत की अथवा भात की देनी चाहिए।....इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति करें।....इससे मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवें।....इनसे घृत की चार आहुति करके 'अष्टाज्याहुति' के निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गलकार्यों में आठ-आठ आहुति देवें।"

स्वामी जी ने संस्कारों में सर्वत्र ये मन्त्र इकट्ठे रखे हों और इसी क्रम से रखे हों, ऐसा नहीं है। जिस संस्कार में जैसा विधान है, वहाँ वैसा ही करना होता है। साथ ही स्वामी जी ने 'बृहद् यज्ञ' का कोई पृथक् विधान नहीं किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखा है कि अधिक होम करने की इच्छा हो तो 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से करे। सत्यार्थप्रकाश के अनुसार अधिक आहुति देना हो तो 'विश्वानि देव' और गायत्री मन्त्र दोनों से आहुति देवे। फिर भी 'बृहद् यज्ञ' का विधान करना है तो संस्कारविधि सामान्य प्रकरण के ऊपर उद्धृत सन्दर्भ के प्रकाश में किया जा सकता है।

अब हम बृहद् यज्ञ के उक्त १८ मन्त्रों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

## चार व्याहृति मन्त्र

**ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥ १॥**

---

१. यहाँ संस्कारविधि की मुद्रित पुस्तकों में 'पूर्णाहुति' पाठ मिलता है। हमारे विचार से पाण्डुलिपि के 'र्वा' को 'र्णा' पढ़ लेने से 'पूर्णाहुति' अपपाठ छप गया है। 'पूर्वाहुति' पाठ ही संगत प्रतीत होता है।

**ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदं न मम ॥ २ ॥**

**ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय—इदं न मम ॥ ३ ॥**

**ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम ॥ ४ ॥**

इन मन्त्रों से चार घृताहुति दें।[1]

१. (ओम्) परमेश्वर को स्मरण करके (भूः) पृथिवीस्थानीय (अग्नये) अग्नि के लिए (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह हव्य (अग्नये) अग्नि के लिए है; (इदम्) यह (मम न) मेरा नहीं है।

२. (ओम्) परमेश्वर को स्मरण करके (भुवः) अन्तरिक्षस्थानीय (वायवे) वायु के लिए (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह हव्य (वायवे) वायु के लिए है, (इदम्) यह (मम न) मेरा नहीं है।

३. (ओम्) परमेश्वर को स्मरण करके (स्वः) द्युलोकस्थानीय (आदित्याय) सूर्य के लिए (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह हव्य (आदित्याय) सूर्य के लिए है; (इदम्) यह (मम न) मेरा नहीं है।

४. (ओम्) परमेश्वर को स्मरण करके (भूः भुवः स्वः) पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्यु-स्थानीय (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य के लिए (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु और सूर्य के लिए है; (इदं मम न) यह मेरी नहीं है।

**यहाँ प्रथम तीन मन्त्रों में क्रमशः पृथक्-पृथक् अग्नि, वायु और सूर्य के नाम से आहुति दी गई हैं। चतुर्थ मन्त्र में तीनों के लिए सम्मिलित रूप से है। अग्निहोत्र के द्वारा जो**

---

१. द्रष्टव्य : महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात्। गोभि० गृह्य० १.८.१४

ओषधि-वनस्पतियों की शुद्धि, वायुशुद्धि, जलशुद्धि, स्वास्थ्य-प्राप्ति आदि का लाभ पहुँचता है, उसमें अग्नि, वायु और सूर्य तीनों ही अपना-अपना योगदान करते हैं। यज्ञाग्नि में जो हम घृत, सुगन्धित सामग्री, मोहनभोग आदि की आहुति देते हैं, उसे वह जलाकर सूक्ष्म कर देता है। उन सूक्ष्मीकृत सुगन्धित परमाणुओं को वायु चारों ओर पहुँचा देता है। सूर्य की किरणें उन्हें विभक्त करके और भी अधिक जनोपयोगी बना देती हैं। उनमें से कार्बन-डाई-ऑक्साइड अलग हो जाती है, जो वृक्ष-वनस्पतियों का भोजन बनती है। जो सुगन्धित एवं रोगनिवारक परमाणु अवशिष्ट रहते हैं, वे श्वास द्वारा प्राणियों के अन्दर जाकर उनके लिए हितकर होते हैं। पहले अग्नि, वायु, सूर्य तीनों को अलग-अलग स्मरण किया गया है। फिर इकट्ठा इसलिए स्मरण किया गया है कि ये तीनों समन्वित रूप में लाभ पहुँचाते हैं।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'इदं न मम' कहकर अपने अहंकार का त्याग करते हैं—यह होम-द्रव्य मेरा नहीं है, यह प्रभु का दिया हुआ है, इसे मैं सार्वजनिक हित के लिए होम कर रहा हूँ। दूसरे, यह भाव भी ले सकते हैं कि समर्पण या दान के पश्चात् समर्पित या दत्त वस्तु अपनी नहीं रहती, उसपर अपना ममत्व या अधिकार जताना उचित नहीं है।

## एक स्विष्टकृत् मन्त्र

**ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद् वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत् स्विष्टकृद् विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान् नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा। इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥**[1]

इस मन्त्र से घृत या भात की आहुति देनी चाहिए।

(यत्) जो (अस्य कर्मणः) इस यज्ञ-कर्म का

---

१. आश्व०गृह्य० १.१०.२२

(अत्यरीरिचम्) अधिक किया है अथवा करता हूँ, (यद् वा) अथवा जो (इह) इस यज्ञ-कर्म में (न्यूनं) न्यून (अकरम्) किया है अथवा करता हूँ (तत्) उसे (स्विष्टकृत्) सु-इष्ट अर्थात् सुसम्पादित करनेवाला (अग्निः) सर्वज्ञ परमेश्वर एवं विद्वान् पुरोहित (विद्यात्) जाने। वह (मे) मेरा (सर्वं) सब यज्ञ (स्विष्टं[१]) सु-इष्ट अर्थात् सुसंपादित, और (सुहुतं) सु-हुत अर्थात् उचित रूप से आहुति दिया हुआ (करोतु) करे। (स्विष्टकृते) यज्ञ को सु-इष्ट अर्थात् सुसंपादित करनेवाले, (सुहुतहुते) उचित रूप से आहुति दिया हुआ करनेवाले, और (सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां) सब प्रायश्चित्ताहुतियों की (कामानां) कामनाओं के (समर्द्धयित्रे) पूर्ण करनेवाले अग्निनामक सर्वज्ञ परमेश्वर एवं विद्वान् पुरोहित के प्रति (नः सर्वान् कामान् समर्द्धय) आप हमारी सब कामनाओं को पूर्ण कीजिए—इस भावना से (स्वाहा) यह आहुति है। (इदं) यह हव्य (स्विष्टकृते) यज्ञ को स्विष्ट करनेवाले (अग्नये) सर्वज्ञ परमेश्वर एवं विद्वान् पुरोहित के लिए है; (इदं) यह (मम न) मेरा नहीं है।

यज्ञ में यज्ञकर्ता यजमानों से कुछ न कुछ त्रुटि हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ है। उच्चारण सबका भिन्न-भिन्न होता है, आदर्श उच्चारण कठिन है। मन्त्रोच्चारण में, आहुति-प्रदान में, यज्ञ के विधि-विधानों में कहीं-न-कहीं दोष हो ही जाता है। कभी यथोचित से अधिक या कम कर्म भी भूलवश हो जाता है। यजमानों के भावना और प्रयत्न तो यही होने चाहिएँ कि किसी प्रकार की त्रुटि न हो। यजुर्वेद यजमान को प्रेरणा देता है कि 'तू यज्ञ को शिव और स्विष्ट रखने में संलग्न हो'।[२] शतपथकार इसकी व्याख्या में कहते हैं कि यज्ञ को अन्यून और अनधिक रूप से करना ही इसे शिव

---

१. स्विष्ट=सु-इष्ट। 'इष्ट' यज धातु का क्त-प्रत्ययान्त रूप है।
२. यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व। यजु० २.१९

और स्विष्ट रखना है।[1] उदाहरणार्थ, अग्निहोत्र में 'अयन्त इध्म आत्मा' मन्त्र को पाँच बार बोलकर प्रत्येक बार घृताहुति देनी होती है। भूल से चार ही आहुतियाँ दी गईं या छह आहुतियाँ दे दी गईं, तो यह यज्ञ का न्यूनाधिक रूप है। ऐसा न करके विध्यनुरूप पाँच ही आहुतियाँ देना अग्निहोत्र का अन्यून और अनधिक रूप होगा।

मन्त्र में 'अत्यरीरिचम्' और 'अकरम्' रूप क्रमशः अतिपूर्वक णिजन्त 'रिच्' धातु तथा 'कृ' धातु के लुङ् लकार के हैं। लुङ् लकार भूतकाल को सूचित करता है। परन्तु वैदिक साहित्य में भूतकाल-वाचक लुङ्, लङ् और लिट् लकार सामान्य वर्तमान आदि अर्थों में भी प्रयुक्त हो जाते हैं।[2] अतः यहाँ सामान्य अर्थ विवक्षित है, जिसमें भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों समाविष्ट हैं। मैं जो अधिक या न्यून कर बैठता हूँ या कर बैठती हूँ अथवा मुझसे अधिक या न्यून हो जाता है—यह तात्पर्य है। भूल करने से बचानेवाला अग्रनायक सर्वज्ञ परमेश्वर है। उसे स्मरण रखेंगे तो यजमान सावधान रहेंगे, जिससे त्रुटि नहीं होगी। विद्वान् पुरोहित भी भूल से बचाता है। अतः 'अग्नि' नाम से दोनों का ग्रहण करना उचित है।

जहाँ प्रायश्चित्ताहुति का विधान होता है, वहाँ वह भी इसी मन्त्र से दी जाती है। वहाँ 'दुरिष्ट' या 'दुर्हुत' के स्थान पर भविष्य में 'स्विष्ट' या 'सुहुत' करने के लिए किसी व्रतानुष्ठान आदि प्रायश्चित्त की विशेषता होती है।

**एक प्राजापत्याहुति**

**ओं प्रजापतये स्वाहा।। इदं प्रजापतये—इदं न मम।।**[3]

इससे मौन करके अर्थात् मन में इस मन्त्र का उच्चारण

---

१. यद् वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवम्। यद् वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तत् स्विष्टम्। श०ब्रा० ११.२.३.९

२. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः पा० ३.४.६। छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया भवन्ति—काशिका।

३. द्रष्टव्य : पार०गृह्य० १.११.३

करके एक आहुति दे। प्रजापति के लिए मौन आहुति क्यों दी जाती है, एतदर्थ शतपथ ब्राह्मण में एक कथा है[१]। एक बार मन और वाणी में झगड़ा हुआ। दोनों कहने लगे कि मैं भद्र हूँ, मैं भद्र हूँ। मन बोला—मैं तुझसे अधिक बड़ा हूँ, क्योंकि मेरे बिना विचारे तू कुछ नहीं बोल सकती। वाणी बोली—मैं तुझसे बड़ी हूँ, क्योंकि तू जो कुछ विचारता है उसे दूसरों पर प्रकट मैं ही करती हूँ। निर्णय के लिए दोनों प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया। वाणी को कहा कि तू तो मन का ही अनुसरण करती है। जो दूसरे का अनुसरण करता है, वह उससे छोटा होता है। तब वाणी ने रुष्ट होकर प्रजापति से कहा कि मैं तेरे लिए हवि का वहन नहीं किया करूँगी। इसीलिए यज्ञ में जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है, वह मौन रहकर ही किया जाता है।

यह कथा तो एक अर्थवाद है। मौन आहुति का वास्तविक हेतु यह है कि प्रजापति यद्यपि सब जड़-चेतन प्रजाओं का पालक होने से सबसे बड़ा है, तथापि वह अवर्णनीय है। अन्य देवों की अपेक्षा वेदों में भी उसका वर्णन बहुत कम हुआ है, वह 'अनिरुक्त'[२] है। उसकी महत्ता मौन में ही है।

## चार आज्याहुतियाँ

**ओं भूर्भुवः स्वः।[३] अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ १॥**

(ओम्) परमेश्वर (भूः) सत्स्वरूप, (भुवः) चेतनस्वरूप, और (स्वः) आनन्दस्वरूप है। (अग्ने) हे

१. द्रष्टव्य : श०ब्रा० १.४.५.८-१२
२. अनिरुक्त उ वै प्रजापतिः। शां०आ० २.१
३. अग्न...दुच्छुनाम्। ऋ० ९.६६.१९

अग्रनायक परमेश्वर! आप (आयूंषि) जीवनों को (पवसे[१]) पवित्र करते हो। आप (आ सुव[२]) प्रेरित करो, प्रदान करो (ऊर्जं[३]) बल (इषं[४] च) और विज्ञान (नः) हमारे लिए। (आरे) दूर (बाधस्व) धकेल दो (दुच्छुनां) दुर्वासना को। (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुति देते हैं। (इदम्) यह आहुति (पवमानाय) पवित्रकर्ता (अग्नये) अग्रनायक परमेश्वर को लक्ष्य करके दी गई है; (इदम्) यह (न मम) मेरी नहीं है।

**ओं भूर्भुवः स्वः। [५]अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ २॥**

(अग्निः) अग्रनायक परमेश्वर (ऋषिः) द्रष्टा, (पवमानः) पवित्रकर्ता, (पाञ्चजन्यः[६]) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और नीचे इन पाँचों दिशाओं के वासी जनों का हितकर्ता, और (पुरोहितः) जीवन-यज्ञ का पुरोहित है (तं महागयं[७]) उस महाप्राण परमेश्वर से हम (ईमहे[८]) याचना करते हैं।

**ओं भूर्भुवः स्वः अग्ने[९] पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद् रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ ३॥**

(अग्ने) हे अग्रनायक परमेश्वर! (स्वपाः[१०]) शुभ

---

१. पूङ् पवने, भ्वादि।
२. षू प्रेरणे, तुदादि।
३. ऊर्जबलप्राणनयोः, चुरादि।
४. इषम् अन्नं विज्ञानं वा—द०भा०, ऋ० ७.४८.४
५. अग्नि""महगयम्। ऋ० ९.६६.२०
६. पञ्चजनेभ्यः पञ्चदिग्वासिजनेभ्यो हितः पाञ्चजन्यः।
७. प्राणा वै गयाः। श०ब्रा० १४.८.१५.७
८. ईमहे=याचामहे। निघं० ३.१९
९. अग्न""पोषम्। ऋग्० ९.६६.२१
१०. शोभनानि अपांसि कर्माणि यस्य स स्वपाः। अपः इति कर्मनाम—निघं० २.१

कर्मोंवाले आप (पवस्व[1]) प्रवाहित कीजिए (अस्मे) हमारे अन्दर (सुवीर्यम्) श्रेष्ठ बल–पराक्रम से युक्त (वर्चः) तेज को। आप (दधद्) प्रदान कीजिए (मयि) मुझमें (पोषं) पुष्टिकर (रयिम्) ऐश्वर्य को। (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुति देते हैं।

**ओं भूर्भुवः स्वः। [2]प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ४॥**

(प्रजापते) हे प्रजापालक परमेश्वर! (त्वद् अन्यः) आपसे भिन्न अन्य कोई (ता) उन[3] (एतानि) इन (विश्वा[4] जातानि) सब उत्पन्न पदार्थों को (न परि बभूव) नहीं व्याप्त कर रहा है, अर्थात् सर्वव्यापक केवल आप ही हैं। (यत्कामाः) जिस पदार्थ की कामनावाले होकर, हम (ते जुहुमः) आपके प्रति आहुति देते हैं (तत् नः) वह हमारी (अस्तु) पूर्ण होवे। (वयं) हम (रयीणां) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें। (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुति देते हैं।

## अष्ट मांगलिक आज्याहुतियाँ

**[5]ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम॥ १॥**

(अग्ने) हे अग्रनायक पुरोहितप्रवर! (विद्वान् त्वम्)

---

१. पवते गतिकर्मा। निघं० २.१४
२. प्रजापते...रयीणाम्। ऋग्० १०.१२१.१०
३/४. ता=तानि, विश्वा=विश्वानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' पा० ६.१.७०
५. त्वं नो...मुमुग्ध्यस्मत्। ऋ० ४.१.४

विद्वान् आप (देवस्य वरुणस्य) तेजस्वी वरणीय परमेश्वर के (नः) हमारे प्रति विद्यमान (हेडः[1]) क्रोध को (अव यासिसीष्ठाः) दूर कर दीजिए। ऐसी कृपा कीजिए कि मैं (यजिष्ठः) श्रेष्ठ यज्ञकर्ता, (वह्नितमः) यज्ञिय सुगन्ध का श्रेष्ठ वाहक, तथा (शोशुचानः[2]) शरीर और मन से शुद्ध, स्वच्छ तथा तेजस्वी बनूँ। आप (विश्वा द्वेषांसि) सब द्वेषभावों को (अस्मत्) हमसे (प्र मुमुग्धि) पूर्णतः दूर कर दीजिए। (स्वाहा) इस भावना से हम आहुति देते हैं। (इदम्) यह हव्य (अग्नीवरुणाभ्याम्) अग्नि और वरुण के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरा नहीं है।

वरुण परमेश्वर का नाम है, क्योंकि वह भक्तों द्वारा वरण किया जाता है। जब कोई मनुष्य अपराध करता है तब वह वरुण के क्रोध का भाजन बन जाता है और उसे ईश्वरीय नियमों के अनुसार दण्ड मिलता है। पारस्परिक द्वेष मनुष्य को अपराध में प्रवृत्त करते हैं। मन्त्र में विद्वान् पुरोहित से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे द्वेषभावों को दूर करके हमें सन्मार्ग पर चलाइए, जिससे हम वरुण परमेश्वर के कोपभाजन न बनें।

**[3]ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ। अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम॥ २॥**

(स त्वं) वह आप (अग्ने) हे अग्रनायक पुरोहितप्रवर! (ऊती) रक्षा के साथ (नः) हमारे (अवमः) अभिमुख (भव) होवो। (अस्याः उषसः) इस उषा के (व्युष्टौ) छिटकने पर (नेदिष्ठः) हमारे समीपतम [होवो]। (नः) हमें

१. हेडः क्रोधनाम। निघं०
२. शुचिर् पूतीभावे, दिवादि। शोचति ज्वलति कर्मा। निघं० १.१६
३. स त्वं...एधि। ऋ० ४.१.५

(वरुणम्) वरणीय परमेश्वर को (रराणः[१]) उपदेश द्वारा प्रदान करते हुए आप [उसके क्रोध को हमसे] (अव यक्ष्व) दूर कर दीजिए। (मृडीकं) सुख (वीहि) प्राप्त कराइए। (नः) हमारे (सुहवः) आसानी से बुलाए जाने योग्य (एधि) होइये। (स्वाहा) इस भावना से हम आहुति देते हैं। (इदम्) यह हव्य (अग्नीवरुणाभ्यां) पुरोहित और परमेश्वर के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरा नहीं है।

**[२]ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युरा चके स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ३॥**

(वरुण) हे वरणीय परमेश्वर, (मे) मेरी (इमं हवं) इस पुकार को (श्रुधी) सुनो, (अद्य च) और आज मुझे (मृडय) सुखी कर दो। (अवस्युः[३]) रक्षा का इच्छुक मैं (त्वाम्) आपको (आ चके[४]) बुला रहा हूँ। (स्वाहा) इस भावना से मैं आहुति देता हूँ। (इदं) यह हव्य (वरुणाय) वरणीय परमेश्वर के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरा नहीं है।

**[५]ओं तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ४॥**

(तत्) यह (त्वा) तुझसे (यामि) याचना करता हूँ (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ। (तत्) यही (आशास्ते) चाहता है (यजमानः) यजमान (हविर्भिः) हवियों के द्वारा। (वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (अहेडमानः) प्रकुपित न होते हुए आप (इह) यहाँ, इस यज्ञ में (बोधि) हमारी प्रार्थना को जानिए। (उरुशंस) हे बहुतों के

---

१. रा दाने, कानच् प्रत्यय।
२. इमं मे...चके। ऋग्० १.२५.१९
३. अवः रक्षणम् आत्मनः कामयते इति अवस्युः। अवस्क्यच्, उ प्रत्यय।
४. कै शब्दे, लिट्।
५. तत् त्वा...मोषीः। ऋग्० १.२४.११

द्वारा स्तुति किये जानेवाले! आप (नः आयुः) हमारी आयु को (मा प्र मोषीः) अपहरण मत कीजिए। (स्वाहा) इस भावना से मैं आहुति देता हूँ। (इदं) यह आहुति (वरुणाय) वरुण के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरी नहीं है।

**[1]ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः।**

**तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥**

**इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदं न मम॥५॥**

(वरुण) हे पापनिवारक परमेश्वर! (ये) जो (ते) आपके (शतं) सौ, (सहस्रं) हजार (यज्ञियाः) यज्ञ-संबन्धी (महान्तः) बड़े-बड़े (पाशाः) पाश (वितताः) फैले हुए हैं, (तेभिः[2]) उनसे (अद्य) आज (सविता[3]) सत्प्रेरणाएँ देनेवाला उपदेशक (उत) और (विष्णुः[4]) व्यापक ज्ञानवाला आचार्य, (विश्वे [देवाः]) सब विद्वद्गण, और (स्वर्काः[5] मरुतः) अति तेजस्वी वीर क्षत्रिय लोग (नः) हमें (मुञ्चन्तु) छुड़ाए रहें, बचाए रहें। (स्वाहा) इस भावना से हम आहुति देते हैं। (इदं) यह आहुति (वरुणाय) पाप-निवारक परमेश्वर के लिए, (सवित्रे) प्रेरक उपदेशक के लिए, (विष्णवे) ज्ञानी आचार्य के लिए, (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) सब विद्वानों के लिए और (स्वर्केभ्यः मरुद्भ्यः) सुतेजस्वी क्षत्रियों के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरी नहीं है।

'वरुण' पाशी कहलाते हैं। उनके पास सैकड़ों-हजारों पाश हैं। ज्योंही मनुष्य पाप या अपराध करता है, त्यों ही वे उसे अपने

---

१. का० श्रौ० सू० २५.१.११
२. तेभिः=तेभ्यः। पञ्चम्यर्थ में तृतीया विभक्ति।
३. षू प्रेरणे। यः सुवति प्रेरयति जनान् शुभकर्मसु सः।
४. विष्लृ=व्याप्तौ। वेवेष्टि=व्याप्नोति सर्वा विद्या यः सः।
५. सु-अर्क तपने।

पाशों से जकड़ लेते हैं। वह उस पाप या अपराध का दण्ड पाकर ही उन पाशों से छूटता है। अथर्ववेद कहता है कि 'हे वरुण! असत्यभाषी को आप अपने सैकड़ों पाशों से जकड़ लो, वह छूटने न पावे'।[१] वरुण परमेश्वर के ये पाश लोहे की हथकड़ी या रस्सी के फन्दों के सदृश भौतिक न होकर कर्म-बन्धन-रूप हैं। अच्छा या बुरा कर्म, अथवा पुण्यकर्म या पापकर्म करते ही मनुष्य परमेश्वर के कर्म-बन्धनों से बँध जाता है। ईश्वरीय नियम के अनुसार फल भोगकर ही उनसे मुक्त होता है। मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् उपदेशक, ज्ञानोन्नत आचार्य, समस्त विद्वद्गण तथा वीर क्षत्रिय लोग हमें सदुपदेश करते रहें, जिससे हम पापों में लिप्त न हों। पापों में लिप्त नहीं होंगे तो वरुण के पाशों से भी छूटे रहेंगे।

**[२]ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित् त्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजं स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम॥ ६॥**

(अग्ने) हे अग्रनायक परमेश्वर! आप (अयाः[३] च असि) सर्वव्यापक भी हो, (अनभिशस्तिपाः च) और निन्दा एवं अपयश से बचानेवाले भी हो। (सत्यम् इत्) सचमुच ही (त्वम्) आप (अयासि[४]) सर्वव्यापक होते हो। (अयाः) सर्वव्यापक आप (नः यज्ञं) हमारे यज्ञ को (वहासि)[५] वहन करो, सफल करो। (अयाः) सर्वव्यापक आप (नः) हमें (भेषजं) पाप-ताप की औषध (धेहि) प्रदान करो। (स्वाहा) इस भावना से हम आहुति देते हैं। (इदं) यह आहुति (अयसे अग्नये) सर्वव्यापी परमेश्वर के स्मरणार्थ है; (इदं) यह (न मम) मेरी नहीं है।

---

१. शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। अथर्व० ४.१६.७
२. का०श्रौ०सू० २५.१.११
३. अय गतौ। अयति सर्वत्र गच्छति व्याप्नोतीति अयाः। औणादिक असुन् प्रत्यय।
४. अय गतौ, लेट् लकार। मध्य में आट् का आगम।
५. वह प्रापणे, लेट् लकार।

परमेश्वर की सर्वव्यापकता का ध्यान हमें पाप करने से बचाता है। पाप हम सब करते हैं, जब हमें यह विश्वास होता है कि हमें पाप करते कोई देख नहीं रहा है। जब प्रभु की सर्वव्यापकता का ध्यान हमें होगा, तब प्रभु हमें सर्वत्र सदा देख रहे हैं—यह सोचकर हम पाप-कर्मों से बचे रहेंगे। पाप नहीं करेंगे, तो हमारी निन्दा और अपकीर्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार प्रभु हमें निन्दा और अपकीर्ति से बचाते हैं। फलतः हमारा जीवन-यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। प्रभु का ध्यान पाप-ताप की औषध का काम करता है।

**[1]ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।**

**अथा वयमादित्य वृते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदं न मम॥ ७॥**

(वरुण) हे वरणीय पापनिवारक परमेश्वर! आप (अस्मद्) हमसे (उत्तमं पाशं) उत्कृष्ट कर्मों के उत्तम पाश को (उत्-श्रथाय[2]) उत्कृष्ट फल देकर खोल दो। (अधमं) निकृष्ट कर्मों के अधम पाश को (अवश्रथाय) निकृष्ट फल देकर खोल दो। (मध्यमं) साधारण कर्मों के साधारण पाश को (वि-श्रथाय) यथायोग्य साधारण विविध फल देकर खोल दो। (अथ) तदनन्तर, अर्थात् पाश-मुक्ति के पश्चात् (वयं) हम (आदित्य) हे प्रकाशमान अजर-अमर परमेश्वर! (तव व्रते) तेरे नियम में चलते हुए (अनागसः) निष्पाप रहकर (अदितये[3] स्याम) अविनाश के पात्र अर्थात् मुक्ति के अधिकारी होवें। (स्वाहा) इस भावना से हम आहुति देते हैं।

---

१. उदुत्तमं...स्याम। ऋग्० १.२४.१५
२. श्रथ दौर्बल्ये, भ्वादि। वेद में क्र्यादि भी प्रयुक्त है। 'छन्दसि शायजपि' पा० ३.१.८४ से श्ना को शायच् आदेश।
३. दो अवखण्डने। दिति=विनाश। अदिति=अविनाश, मोक्ष।

(इदं) यह आहुति-समर्पण (वरुणाय) पापनिवारक प्रभु के लिए, (आदित्याय) अविनाशी प्रभु के लिए, (अदितये च) और अदिति अर्थात् अविनश्वरता या मुक्ति के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरा नहीं है।

वरुण के पाशों की चर्चा पञ्चम मन्त्र की व्याख्या में कर चुके हैं। मनुष्य उत्तम कर्म करने से उत्तम पाशों से बँधता है। उसके वे पाश खुलते हैं उत्कृष्ट फल पाकर। निकृष्ट कर्म करने से निकृष्ट पाशों से बँधता है। वे पाश खुलते हैं निकृष्ट फलप्राप्ति के अनन्तर। मध्यम कर्म करने से मध्यम पाशों से बँधता है। उनसे छूटता है मध्यम फल मिलने के पश्चात्। कर्म करते ही शुभाशुभ कर्म-संस्कार आत्मा के साथ संसृष्ट हो जाते हैं। वे ही कर्म-बन्धन या पाश हैं।

**[1]ओं भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदं न मम॥ ८॥**

हे यज्ञ के प्रधान ऋत्विज् ब्रह्मा और अध्वर्यु! आप दोनों (नः) हमारे लिए (समनसौ) अनुकूल मनवाले, (सचेतसौ) सचेत, और (अरेपसौ) दोष या त्रुटि न करनेवाले (भवतं) होवो। (मा) न (यज्ञं) यज्ञ को (हिंसिष्टं) विघ्नित, खण्डित, त्रुटित या क्षतिग्रस्त करो, और (मा) ना ही (यज्ञपतिं) मुझ यजमान को। (जातवेदसौ) हे ज्ञानी और ज्ञानदाताओ! आप (अद्य) आज (नः) हमारे लिए (शिवौ) मङ्गलकारी (भवतं) होवो। (स्वाहा) इस भावना से यह आहुति है। (इदं) यह आहुति-समर्पण (जातवेदोभ्याम्) ज्ञानी एवं ज्ञानदाता ब्रह्मा और अध्वर्यु के लिए है; (इदं) यह (न मम) मेरा नहीं है।

यज्ञ में चार ऋत्विज् होते हैं—ब्रह्मा, होता, उद्गाता और अध्वर्यु। इनमें भी प्रधान ब्रह्मा और अध्वर्यु होते हैं। ब्रह्मा यज्ञ

---

१. भवतं…नः। यजु० ५.३

का संचालन करता है। अध्वर्यु विधियों का संपादन करता है। मन्त्र में इन्हीं दो प्रधान ऋत्विजों को 'जातवेदसौ' नाम से संबोधित किया गया है। ये स्वयं भी यज्ञविद्या के ज्ञाता होते हैं और यजमान को तथा अन्यों को भी ज्ञानवान् बनाते हैं, अतः 'जातवेदस्' कहलाते हैं।[१] ये दोनों यदि यजमान के प्रति अनुकूल तथा सावधान न हों, तो इनसे त्रुटि संभव है, जिससे यजमान का यज्ञ ही त्रुटित एवं विफल हो सकता है। अतः इनसे मन्त्रोक्त प्रार्थना की गई है तथा इनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन एवं समर्पण भी किया गया है।

यहाँ बृहद् यज्ञ के विशिष्ट मन्त्र समाप्त होते हैं। जैसा हमने पहले विचार प्रकट किया है, इनके पश्चात् पूर्णाहुति दी जानी चाहिए।

---

१. जातं वेदो यज्ञविद्याज्ञानं ययोः यतो वा तौ+जातवेदसौ।

षष्ठ अध्याय

# आत्मिक अग्निहोत्र एवं अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभ

## १. आत्मिक अग्निहोत्र

प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हुए हम यज्ञकुण्ड में भौतिक अग्नि को जगाते हैं। इस प्रज्वलित अग्नि के तेज को देखकर हमें अपने आत्मा में उस परमात्मारूप अग्नि की ज्योति को जगाना होता है। भौतिक अग्नि को यज्ञकुण्ड में जगाकर और उसमें आहुति डालकर हम बाह्य अग्निहोत्र तो करते ही हैं, आज अन्तर्मुख होकर आत्मिक अग्निहोत्र का भी प्रक्रम बाँध लेवें।

**उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते**
**सꣳसृजेथामयं च।**
**अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च**
**सीदत॥**[1]

"(अग्ने) हे परमात्माग्नि, तू (उद्बुध्यस्व) उद्बुद्ध हो, (प्रतिजागृहि) मेरे हृदय में जाग। (त्वम्) तू (अयं च) और यह मेरा आत्मा, दोनों मिलकर (इष्टापूर्ते संसृजेथाम्) इष्ट और पूर्त का सर्जन करो। (अस्मिन् उत्तरस्मिन् सधस्थे अधि) इस उत्कृष्ट हृदयरूप यज्ञमण्डप में (विश्वे देवाः) सब

---

१. यजु० १५.५४

इन्द्रियरूप देव (यजमानश्च) और आत्मारूप यजमान (सीदत) आकर बैठो।

## दिव्य अग्नि का जागरण

आज हम अपने हृदयरूप यज्ञकुण्ड में अग्नि को जगाना चाहते हैं। यह अग्नि कौन है? यह वह परमात्माग्नि है, जो केवल इस भूगोल को ही नहीं, किन्तु ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित करता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् आदि सब उसकी चमक से चमकते हैं, जैसा कि उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं**
**नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
**तमेव भान्तमनु भाति सर्वं**
**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**[1]

सबका अग्रणी या पथप्रदर्शक होने से तथा समस्त शुभ कर्मों में आगे लाए जाने के कारण भी उसे अग्नि कहते हैं—
**अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते॥**[2]

इस परमात्माग्नि से कौन-सा स्थान खाली है? चर-अचर सभी में यह विद्यमान है। हमारे हृदय में भी इसका निवास है। जैसे तिलों में तेल, दधि में घृत, स्रोतों में जल या अरणियों में वह्नि रहती है, वैसे ही हम सबके हृदयों में यह परमात्माग्नि अव्यक्त रूप में स्थित है। उपनिषद् कहती है—
**तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषु चाग्निः।**
**एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥**[3]

गीता में कृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

---

१. कठ०उप० ५.१५, मु० उप० २.११
२. निरु० ७.१४
३. श्वेता० उप० १.१५

**"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"**[१] अर्थात् भगवान् सब प्राणियों के हृदय में छिपे बैठे हैं।

आज हमारे अन्दर अव्यक्त रूप में बैठे हुए इस परमात्माग्नि को हमें जगाना है। जैसे यज्ञकुण्ड की समिधाओं में पहले से ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान भौतिक अग्नि थोड़ी-सी अन्य वह्नि से प्रकट हो जाती है, वैसे हमारे हृदयों में पहले से ही व्याप्त यह परमात्माग्नि थोड़े-से योगानुभव से प्रदीप्त हो उठती है और तब इसे प्रकाशित करने के लिए नहीं, किन्तु न बुझने देने के लिए ही प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। निरन्तर समर्पण की हवि देते रहने से यह बुझने नहीं पाती।

## इष्ट और पूर्त का सर्जन

यदि इस परमात्माग्नि को अपने हृदय में हमने जगा लिया है तो फिर अब आगे क्या करना है? मन्त्र में कहा है कि इसके बाद हम उस परमात्माग्नि के साथ मिलकर इष्ट और पूर्त्त का सर्जन करें। यह इष्ट और पूर्त्त क्या है? जहाँ तक हमारा बाह्य यज्ञ-यागादि से सम्बन्ध है, वहाँ तो स्मृतिकारों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।**
**आतिथ्यं वैश्वदेव्यं च इष्टमित्यभिधीयते॥**
**वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।**
**अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥**

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदानुपालन, आतिथ्य, वैश्वदेव्य आदि जितने भी यज्ञ-याग किये जाते हैं, वे सब 'इष्ट' नाम से पुकारे गए हैं। परोपकार के लिए वापी, कूप, तडाग, यज्ञशाला, उद्यान आदि का निर्माण कराना 'पूर्त' है। ये इष्ट और पूर्त अग्नि प्रज्वलित करके ही किये जाते हैं, इसलिए इनका इस भौतिक यज्ञाग्नि से तो सम्बन्ध है ही; पर इनमें भी

१. गीता १८.६१

वही व्यक्ति प्रवृत्त होता है, जिसके हृदय में परमात्मारूपी अग्नि जल रही होती है। स्वार्थ-त्यागपूर्वक ऊँचे उद्देश्य से किये जानेवाले इन शुभ कार्यों से आत्मिक अग्निहोत्र न करनेवाले सामान्यजन तो दूर ही रहते हैं। अतः हृदय में परमात्माग्नि को प्रज्वलित करने से भी इनका सम्बन्ध हो जाता है।

तो भी यहाँ आत्मिक अग्निहोत्र में हमें मुख्य रूप से अपने शरीर के अन्दर होनेवाले इष्ट और पूर्त को देखना है। हमारा यह शरीर देवों की पुरी है—

**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या॥**[1]

इस शरीर में सब देव वैसे ही अवस्थित हैं, जैसे गौएँ गोष्ठ में स्थित होती हैं—

**सर्वा अस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥**[2]

मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ही शरीर के देव हैं। इन सबसे हम जो कुछ भी क्रियाएँ करते हैं, उन सबको हमें यज्ञमय बनाना है। इस प्रकार मनन, चिन्तन, प्राणन, दर्शन, श्रवण, गमन आदि अपनी सभी क्रियाओं को हमें 'इष्टि' का रूप देना है।

इसी प्रकार हमें अपने शरीर में क्षीण होती हुई शक्तियों को पूर्ण करना है। जो हमारे अन्दर अनेक छिद्र हो रहे हैं उन्हें भरना है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—.

**यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥**[3]

अर्थात् जो मेरी आँख का, हृदय का या बुद्धि का छिद्र या दोष है, जो बहुत बड़ा होता जा रहा है, उसे बृहस्पति प्रभु भर

१. अथर्व० १०.२.३१
२. अथर्व० ११.८.३२
३. यजु० ३६.२

देवे। इस प्रकार वह भुवनपति परमेश्वर हमारे लिए मंगलकारी हो।

यही हमारे अन्दर का पूर्त है। पर अन्दर के ये इष्ट और पूर्त उसी समय होते हैं जब हमारे अन्दर प्रसुप्त परमात्माग्नि जाग उठती है। अन्यथा जब परमात्मारूप अग्नि का निवास न होकर हमारे अन्दर असुर की क्रव्याद् अग्नि जलने लगती है, तब हमारी सब क्रियाएँ यज्ञमयी न होकर आसुरी हो जाती हैं। हमारे अन्दर के छिद्र धीरे-धीरे गहरे और बड़े होते जाते हैं। हम इष्ट और पूर्त से दूर ही दूर चले जाते हैं। इसीलिए ऊपर के मन्त्र में इन्द्रियों के छिद्रों को भरने के लिए सब भुवनों के ईश्वर बृहस्पति से ही प्रार्थना की गई है। इस प्रकार हमने देख लिया कि कैसे परमात्माग्नि के साथ मिलकर ही आत्मा इष्ट और पूर्त का सम्पादन कर सकता है। इसीलिए परमात्माग्नि को सम्बोधन कर कहा गया है कि हे अग्नि, तुम हमारे हृदयों में जागो और जागकर हमारे आत्मा के साथ मिलकर इस देहपुरी में इष्टपूर्त को रचाओ—

**उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च ॥**[1]

## देवों तथा यजमान का आगमन

इस देहपुरी में यज्ञ रचाया जा रहा है। तो यज्ञमण्डप कौन-सा है? यज्ञ में आनेवाले देव कहाँ हैं? और यजमान कौन हैं? मन्त्र में कहा है कि इस उत्कृष्ट सधस्थ (सहस्थान/यज्ञमण्डप) में सब देव और यजमान आकर बैठें। बाहर के यज्ञ में तो निर्वाचित ऋत्विग्गण और निमन्त्रित विद्वान् लोग ही 'देव' हैं और यज्ञ को रचानेवाला 'यजमान' है, पर इस अन्दर के यज्ञ में यह हृदय यज्ञशाला है। इसी को उत्तरसधस्थ कहा गया है। इस हृदयमण्डप में आसन जमाकर सब देवों को और

---

१. यजु० १५.५४

यजमान को यज्ञ का प्रक्रम बाँधना है। हमारी इन्द्रियाँ ही देव हैं। जब यह आत्मिक अग्निहोत्र किया जा रहा है, तब इन्द्रियों को बाहर की यात्रा छोड़कर अन्तर्मुख हो जाना है, और इन्हीं को यज्ञ की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए ऋत्विज् बनना है। हमें अपनी सब इन्द्रियों को हृदय में केन्द्रित करना है। वहीं पर इन्हें अपना-अपना काम बाँटकर यज्ञ को सम्पन्न करना है। तभी यह यज्ञ चल सकता है। 'आत्मा' इस यज्ञ का यजमान है। वह कल्याणप्राप्ति के लिए, योग-क्षेम और मोक्ष के लिए इस यज्ञ को रचाता है। गोपथ ब्राह्मण में इस विषय में एक प्रकरण इस प्रकार है—

**पुरुषो वै यज्ञः, तस्य मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अंगानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः[1] ॥**

इस वर्णन के अनुसार आध्यात्मिक यज्ञ में होता का कार्य वाणी करती है, चक्षु अध्वर्यु, प्राण उद्गाता और मन ब्रह्मा होते हैं। ये ही यज्ञ के मुख्य चार ऋत्विज् हैं। वाणी होता के आसर्न पर बैठकर अपने सूक्ष्म रूप से परमात्माग्नि का ही स्तोम-पाठ करती है। चक्षु अध्वर्यु बनकर अपनी दर्शन-शक्ति से समस्त यज्ञ के विनियोग को करती है। प्राण उद्गाता बन उसी का सामगान करता है। मन सब इन्द्रियों को एक केन्द्र में बाँधनेवाला है। उसके स्थिर तथा सावधान रहने पर ही ये सब शक्तियाँ उस यज्ञाग्नि के प्रति एकनिष्ठ रह सकती हैं। वही इस आत्मिक यज्ञ के सब विघ्नों को दूर करता है, सब इन्द्रियरूप ऋत्विजों का शासन करता है। इसलिए मन ही ब्रह्मा है। पुरुष-यज्ञ की इस कल्पना के विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो हमें यही देखना है कि इस आत्मिक यज्ञ में बैठनेवाले देव हमारे शरीर में कौन-से हैं।

---

१. गो०ब्रा०, उ० ५.४

वह ब्राह्मणग्रन्थ के उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है। संक्षेप में कहना हो तो, शरीर की सब शक्तियाँ अन्तर्मुख होकर इस यज्ञ के संपादन में लग जाती हैं। चक्षु मुख्यतः बाहर के दर्शन से उपरत हो, अन्तर्मुख होकर प्रज्वलित परमात्माग्नि का ही दर्शन करने लगते हैं। श्रोत्र बाह्य श्रवण से विमुख हो उसी परमात्माग्नि के संदेश को सुनने लगते हैं। इस प्रकार शरीर की सभी स्थूल एवं सूक्ष्म शक्तियाँ इस यज्ञ में देव बनकर यजमान आत्मा सहित हृदय के इस यज्ञ-भवन में आ उपस्थित होती हैं।

## समिधा और घृत की आहुति

इस आत्मिक अग्निहोत्र की सब तैयारी हो चुकी। सब देव अपना-अपना काम बाँटकर आसन पर विराजमान हैं। यजमान आत्मा भी यज्ञ की दीक्षा लेकर उपस्थित है। हृदय-देश संस्कृत हो चुका है। हृदय में अग्नि भी प्रज्वलित हो चुकी है। पर इस अग्नि को और अधिक प्रदीप्त करने के लिए तथा बहुत देर तक जागरित रखने के लिए इसमें हवि भी डालनी होगी, अन्यथा कहीं यह हल्के-से आसुरी हवा के झोंके से बुझ ही न जाए। इसलिए हम इस प्रज्वलित अग्नि में समिधा और घृत की आहुति देते हैं—

**तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्धयामसि बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य ॥**[1]

(अङ्गिरः) हे मेरे अंगों के रस प्राणस्वरूप परमात्माग्नि, (तं त्वा) हमारे हृदयों में प्रकट हुए उस तुझको (समिद्भिः घृतेन वर्धयामसि) हम समिधाओं से और घृत से बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य) हे अतिशय प्रवृद्ध परमात्माग्नि, (बृहत् शोच) तू हमारे हृदयों में बहुत अधिक चमक, प्रकाशित हो।

उस अपने हृदयों में उद्बुद्ध हुए परमात्माग्नि को हम

१. यजु० ३.३

समिधा और घृत से प्रदीप्त करते हैं। **'समिधाग्निं दुवस्यत'** और **'सुसमिद्धाय शोचिषे'** मन्त्रों में भी समिधा और घृत का उल्लेख है। पर ये समिधा और घृत क्या हैं? इस अभौतिक सूक्ष्म अग्नि को काष्ठमयी समिधा और गव्य घृत की अपेक्षा नहीं है। इस आन्तरिक यज्ञ में तो हमारे शरीर के अन्दर की ही कोई वस्तु समिधा और घृत होनी चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

**अस्थि वा एतत् यत् समिधः। एतद् रेतो यदाज्यम्।।**[1]

हमारे शरीर में 'अस्थि' हीं समिधा है, और 'वीर्य' घृत है। अथर्ववेद में भी लिखा है कि हमारे अन्दर प्रविष्ट होकर इन्द्रियरूप देव जो यज्ञ रचा रहे हैं, उसमें उन्होंने रेतस् अर्थात् वीर्य से घृत का काम लिया है, और अस्थि को समिधा बनाया है—

**अस्थि कृत्वा समिधं तदुष्टापो असादयन्।**
**रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्।।**[2]

इसलिए अस्थि और वीर्य ही इस आन्तरिक यज्ञ में समिधा और घृत हैं। पर इनकी परमात्माग्नि में आहुति किस प्रकार दी जा सकती है, सो समझ लेना चाहिए। इस आन्तरिक अग्निहोत्र के समय हमें यह भावना जगानी होती है कि हे परमात्माग्नि, अपने शरीर की अस्थियों को हम तेरे प्रति समर्पित करते हैं अर्थात् अपनी हड्डियों से हम जितने भी बल-कार्य करेंगे, वे सब तुझे लक्ष्य में रखकर होंगे, तुझे प्रज्वलित करने की दृष्टि से होंगे। उनसे तेरा ही प्रचार-प्रसार होगा, जैसा समिधा के होम से भौतिक अग्नि का प्रसार होता है। इसी प्रकार अपनी रेतः-शक्ति को घृत बनाएँ। जैसे घृत के होम से अग्नि अधिकाधिक प्रदीप्त होती है, वैसे ही हम अपने रेतस् को परमात्माग्नि के अर्पण कर, ऊर्ध्वरेताः बनकर,

---

१. तै०ब्रा० १.१.९.४
२. अथर्व ११.८.२९

परमात्माग्नि को अधिकाधिक बढ़ाएँ।

समिधा या अस्थि से हमारे शरीर के सभी स्थूल अंश का ग्रहण हो जाता है, और घृत या रेतस् हमारे अन्दर के तरल पदार्थ के उपलक्षक हैं। इसलिए केवल अस्थि और वीर्य ही नहीं, अपने शरीर के सभी स्थूल-सूक्ष्म अंशों या शक्तियों का हमें उस परमात्माग्नि में होम करना है। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए समिधा, घृत, चरु, पुरोडाश आदि जो कुछ भी हवि है, वह सब इस अध्यात्म-यज्ञ में हमारे शरीर के ही किन्हीं अंगों का द्योतक है। उन-उन शरीर के अवयवों को परमात्मा को समर्पित करना ही अग्नि में उस हवि को डालना है। संक्षेप में कहना हो तो अपने शरीर के सब अंगों को अर्थात् उनसे किये जानेवाले व्यापारों को हमें परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना है।

यह परमात्माग्नि में डाली हुई हमारी आहुति कहाँ जाती है? जैसे भौतिक यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति को अग्नि अपने पास न रखकर, उसे सूक्ष्म करके, लोकोपकार के लिए सर्वत्र फैला देता है, वैसे ही यह परमात्माग्नि भी हमारी आहुति को अपने तेज से सूक्ष्म और तेजस्वी बनाकर अधिक विस्तृत क्षेत्रवाला बना देता है। पहले हमारी सब शक्तियाँ अपने स्वार्थ के लिए थीं, तो अब उस परमात्माग्नि में आहुति होकर, उसके तेज से प्रदीप्त होकर वे विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती हैं। अब परार्थ ही उनका लक्ष्य हो जाता है।

इस प्रकार उस परमात्माग्नि में हम आहुति डालते हैं। इससे वह हमारे अन्दर प्रकट हुआ परमात्मा अधिक प्रदीप्त और चिरस्थायी रह सकता है। हृदय में प्रकट हुए उस अग्नि को जब हम आहुति देकर अपने अंग-अंग में प्रविष्ट करा लेते हैं, तब हम शीघ्र बाहर के प्रलोभनों से आकृष्ट होकर उसे भूल जाएँगे इसकी आशंका नहीं रहती। इस प्रकार वह अग्नि हमारे अन्दर स्थित हो जाती है, और जितना ही हम उसके प्रति अपनी शक्तियों के होम का अधिकाधिक अभ्यास

करते रहते हैं, उतना ही अधिक वह प्रदीप्त और स्थिर होती जाती है। इस प्रकार यह आत्मिक अग्निहोत्र चलता है। प्रतिदिन के बाह्य अग्निहोत्र के साथ ही इस आत्मिक अग्निहोत्र की भावना को भी हम जगा सकते हैं।

## २. अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभ

शतपथ ब्राह्मण में जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य का एक संवाद इस प्रकार है[१]—

'हे याज्ञवल्क्य, क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो?'

'जानता हूँ, सम्राट्!'

'तो बताइये, अग्नि में किससे आहुति दी जाए?'

'दूध से।'

'यदि दूध न मिले तो किससे आहुति दें?'

'ब्रीहि और यव से।'[२]

'यदि ब्रीहि और यव भी न हों, तब किससे आहुति दें?'

'अन्य ग्राम्य ओषधियों[२] से।'

'यदि अन्य ग्राम्य ओषधियाँ भी न हों, तब?'

'आरण्य (जंगली) ओषधियों से'

'यदि आरण्य ओषधियाँ भी न हों, तब?'

'वानस्पत्य[३] (वृक्षों के फूल, फल, पत्र, समिधा आदि) से।'

'यदि वानस्पत्य भी न हों, तब?'

'जलों से।'

---

१. श०ब्रा० ११.३.१.१-३

२. फल पकने के बाद जो झाड़ियाँ सूखकर समाप्त हो जाती हैं वे ओषधि कहलाती हैं। ओषध्यः फलपाकान्ताः—अमरकोष २.४.६।

३. जिनमें फूल आकर फल लगते हैं उन वृक्षों का नाम वानस्पत्य है। जिनमें फूल आए बिना ही फल लग जाते हैं वे वृक्ष वनस्पति कहलाते हैं, जैसे गूलर, बड़, पीपल, आदि। वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः। अमरकोष २.४.६।

'यदि जल भी न हों, तब?'

'कुछ भी नहीं था, तब भी होम तो चलता ही था। अतः कुछ भी न मिले, तब सत्य की श्रद्धा में आहुति दे।'

## त्याग की भावना

यह संवाद आपत्काल का विधान करने के साथ-साथ अग्निहोत्र में आहुति की भावना के महत्त्व का भी प्रतिपादन करता है। अग्निहोत्र से दो प्रकार के लाभ होते हैं, एक तो रोगनाशक एवं पुष्टिप्रद ओषधियों के होम द्वारा आरोग्य-प्राप्ति, पुष्टि, वृष्टि आदि, और दूसरा भावनात्मक लाभ। आहुति देने में त्याग की भावना निहित है। अग्नि में जिस वस्तु की हम आहुति देते हैं, वह शक्तिकृत होकर पूर्वापेक्षया जैसे अधिक लाभकारी हो जाती है, वैसे ही जिस वस्तु का परोपकार के लिए हम दान करते हैं, वह वस्तु हमारे पास रहकर हमें जितना लाभ पहुँचाती, उसकी अपेक्षा शतगुणित लाभ अन्यत्र जाकर पहुँचाती है। अतः जब न अग्नि सुलभ हो, न कोई होम-द्रव्य सुलभ हो, तब भी त्याग की भावना को जगाने के लिए अग्निहोत्र के मन्त्र बोलकर ही हम अग्निहोत्र कर सकते हैं। प्रतीक रूप में हम स्वाहा बोलकर जल-कण या मृत्कण ही भूमि पर छोड़ सकते हैं। कुछ भी न हो तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सत्य की श्रद्धा में आहुति दे। सत्य अपने-आप में जितना लाभकारी है, उसकी अपेक्षा शतगुणित लाभकारी हो जाता है जब श्रद्धा में उसकी आहुति पड़ती है, अर्थात् श्रद्धा द्वारा वह शक्तिकृत हो जाता है। अग्निहोत्र में त्याग के अतिरिक्त निम्नलिखित कतिपय अन्य भावनाएँ भी निहित हैं।

## ऊर्ध्वगामिता

अग्नि की गति सदा ऊपर की ओर ही होती है— **प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः**। यज्ञकुण्ड में अग्नि की ज्वालाएँ वायु से लहराती हुई ऊपर की ओर उठ रही हैं, मानो

वे यजमान को निमन्त्रण दे रही हैं कि आओ, हमारी तरह तुम भी ऊपर उठो, ऊर्ध्वगामी बनो, उन्नति के सोपान पर आरूढ़ हो जाओ—

**एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः।**
**सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।**[1]

अग्निहोत्र की ऊर्ध्वगामी ज्वालाओं से प्रेरणा लेकर ही यजमान ऊर्ध्वगामिता की तरंग से तरंगित होकर कहता है—

**पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।**
**दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥**[2]

अर्थात् मैं पृथिवी से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष में पहुँच गया हूँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँच गया हूँ और द्युलोक से स्वर्लोक की ज्योति में पहुँच गया हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं जिस स्तर पर खड़ा था, उससे ऊपर उठता-उठता उन्नति के शिखर पर पहुँच गया हूँ।

## तेजस्विता

अग्नि में तेजस्विता है। वह स्वयं भी तेजोमय है और अन्यों को भी तेजस्वी बनाता है। वह प्रकाशमान भी है और प्रकाशक भी है। अग्निहोत्री यह भावना ग्रहण करता है कि मुझे भी वैसा ही तेजस्वी बनना है—

**यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।**
**यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।**
**यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्॥**[3]

## भस्मीकरण

अग्नि के अन्दर भस्म करने की शक्ति है। अग्निहोत्री अग्नि से यह प्रेरणा लेता है कि मैं भी अपने वैयक्तिक और

---

१. मु० उप० २.६
२. यजु० १७.६७
३. आश्व०गृह्य० १.२१.४

सामाजिक दोषों एवं पापों को भस्म कर अपने-आपको तथा समाज को पवित्र कर लूँगा। अतएव वह अग्नि से प्रार्थना करता है—

**सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।**
**अप नः शोशुचदघम्॥**
**प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः।**
**अप नः शोशुचदघम्॥**[1]

अर्थात् शरीररूपी क्षेत्र को उत्कृष्ट बनाने की इच्छा से, सन्मार्ग पर चलने की इच्छा से और सद्गुणों की सम्पत्ति पाने की इच्छा से हम यज्ञ कर रहे हैं। हमारा पाप पूर्णतः भस्म हो जाए। तुझ प्रतापवान् अग्नि की ज्वालाएँ चारों ओर उठ रही हैं। उनसे हमारा पाप पूर्णतः भस्म हो जाए।

अग्निहोत्र के साथ अपने-आपको परमात्माग्नि की समिधा बनाना, स्वयं को अग्नि बनाकर सौम्यता से आवेष्टित करना, **'इदं न मम'** द्वारा अपने अन्दर निरभिमानिता को जागरित करना, सर्वविध पूर्णता प्राप्त करना आदि भावनाएँ भी जुड़ी हुई हैं। उनका निरूपण अग्निहोत्र के मन्त्रों तथा उसकी विधियों की व्याख्या में किया जा चुका है, अतः यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है।

---

१. ऋग्० १.९७.२,५

# अध्यात्म गीत

आत्मा में तुम अग्नि जलाओ
वीरों का जीवन जी जाओ।
संकल्पों की शुभ चिनगारी
हृदय-गगन में खूब उड़ाओ॥

ज्योतिहीन जीवन भी क्या है
लपट-बुझा दीपक ही तो है।
तेजस्वी मुखड़ा तुम धर कर
आशा का उत्साह जगाओ॥

चहल-पहल मृदु हास्य जागरण
मानव के ये उज्ज्वल धन हैं।
इन्हें ग्रहण कर विजय-पताका
प्राणों के नभ में फहराओ॥

तन-मन-धन की आहुति देकर
'स्वाहा' का तुम नाद गुँजाओ।
मानस में तुम अग्नि जलाओ।
ऐसा अनुपम यज्ञ रचाओ॥

—रामनाथ वेदालंकार

## सप्तम अध्याय

# यज्ञ एवं अग्निहोत्र विषयक सूक्तियाँ

यहाँ यज्ञ एवं अग्निहोत्र के विषय में ७५ लघु सूक्तियाँ दी जा रही हैं। ये चारों वेद, शाखाग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ एवं उपनिषद् से ली गई हैं। ये छोटी-छोटी सूक्तियाँ बड़े ही महत्त्व की हैं। इनमें से कुछ यज्ञ एवं अग्निहोत्र की महिमा उजागर करती हैं, कुछ यज्ञ की कर्तव्यता, यज्ञ के उचित रूप, यज्ञ में पुरोहित के महत्त्व, यज्ञ में दक्षिणा की अनिवार्यता आदि पर प्रकाश डालती हैं। ये सूक्तियाँ बड़ी ही सप्राण, स्फूर्तिदायिनी, जागृतिकारिणी, हृदय को उद्वेल्लित करनेवाली हैं। वक्तागण भाषणों में इनका प्रयोग कर सकते हैं, यज्ञशालाओं में इन्हें अंकित किया जा सकता है। इनका आर्यभाषा में सरल अनुवाद भी दे दिया गया है। आशा है यज्ञप्रेमी जन इनसे लाभान्वित होंगे।

**वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय।** ऋग् १.३९.२

हे यज्ञाग्नि! तू आर्य की ज्योति है।

**भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते।** ऋग् १.८३.३

यज्ञकर्ता यजमान को भद्रशक्ति प्राप्त होती है।

**उरु क्रंसते अध्वरे यजत्रः।** ऋग् १.१२१.१

यजमान यज्ञ में बहुत उत्साह धारण करे।

**गृहं गृहमुपतिष्ठाते अग्निः।** ऋग्० १.१२४.११

घर-घर में यज्ञाग्नि पहुँचे।

**यज्ञस्य केतुरर्हणा।** ऋग्० १.१२७.६

यज्ञ का ध्वज आदरयोग्य है।

**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।** ऋग्० १.१६४.३५
यह यज्ञ भुवन का केन्द्र है।

**सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः।** ऋग्० २.९.१
पवित्र ज्वालावाला यज्ञाग्नि सहस्र लाभ पहुँचाता है।

**जिघर्मि यज्ञं हविषा घृतेन।** ऋग्० २.१०.२
यज्ञ को हवि और घृत से प्रदीप्त करता हूँ।

**यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे।** ऋग्० २.२१.५
कर्मपरायण लोग यज्ञ से सन्मार्ग की दिशा पाते हैं।

**हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य।** ऋग्० २.३५.११
पीतवर्ण घृत यज्ञाग्नि का अन्न है।

**जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।** ऋग्० ३.१८.३
वेग और बल पाने के लिए हव्य की आहुति देता हूँ।

**वर्चो धा यज्ञवाहसे।** ऋग्० ३.८.३
हे प्रभु, यज्ञकर्ता को तेज प्रदान करो।

**बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा।** ऋग्० ३.४.११
सुपुत्रवती माता हमारे यज्ञ में आकर बैठे।

**विप्रो यज्ञस्य साधनः।** ऋग्० ३.२७.८
बुद्धिमान् मनुष्य यज्ञ का साधक होता है।

**यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत्।** ऋग्० ३.३२.१२
यज्ञ तेरे वज्र को पाप-विनाश के लिए प्रेरित करे।

**असिक्न्यां यजमानो न होता।** ऋग्० ४.१७.५
रात्रि में यजमान आहुति न दे।

**ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञाः।** ऋग्० ४.३७.२
यज्ञ तुम्हारे हृदय और मन की तृप्ति के लिए हों।

**नासिष्वेरापिर्न सखा न जामिः।** ऋग्० ४.४५.६
अयाज्ञिक का कोई बन्धु, सखा या संबंधी नहीं होता।

**यज्ञेयज्ञे न उदव।** ऋग्० ५.५.९
यज्ञ-यज्ञ में हमें उत्कर्ष प्राप्त करा।

**अहेळमान उप याहि यज्ञम्।** ऋग्० ६.४१.१
भक्तिभाव से यज्ञ में पहुँच।

**मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः।** ऋग्० ७.२१.२
कामक्रीड़ा करनेवाले लोग हमारे यज्ञ में न आवें।
**मा यज्ञो अस्य स्रिधद् ऋतायोः।** ऋग्० ७.३४.१७
सत्य के पुजारी का यज्ञ विफल नहीं होता।
**ईजानस्तरति द्विषः।** ऋग्० ७.५९.२
यज्ञ करनेवाला द्वेषियों को जीत लेता है।
**प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते।** ऋग्० ७.६१.४
यज्ञ में मन लगानेवाले यजमान का बल बढ़ता है।
**इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम्।** ऋग्० ८.२.१८
यज्ञ करनेवाले से विद्वान् लोग प्रीति करते हैं।
**यज्ञो वितन्तसाय्यः।** ऋग्० ८.६८.११
यज्ञ सर्वत्र सुख फैलानेवाला है।
**चारु प्रियतमं हविः।** ऋग्० ९.३४.५
यज्ञ की हवि चारु और प्रियतम हो।
**स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि।** ऋग्० १०.२.२
हम स्वाहापूर्वक हवियों की आहुति दें।
**नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः।** ऋग्० १०.४२.४
शूर प्रभु यज्ञ न करनेवाले से मित्रता नहीं चाहता।
**निषीद होत्रमृतुथा यजस्व।** ऋग्० १०.९८.४
यज्ञ में बैठ, ऋतु के अनुकूल यज्ञ कर।
**यज्ञश्च भूद् विदथे चारुरन्तमः।** ऋग्० १०.१००.६
चारु यज्ञ हमारे जीवन में निकटतम रहे।
**नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग् जोषति त्वे।** ऋग्० १०.१०५.८
ब्रह्मारहित यज्ञ अलग पड़कर प्रभु को प्रिय नहीं होता।
**अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।**
ऋग्० १०.१७०.४
यज्ञवेदि अलंकृत करो, अग्नि प्रज्वलित करो।
**अतमेरुर्यज्ञः।** यजु० १.२३
यज्ञ ग्लानि मिटानेवाला है।
**ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्।** यजु० २.८

यज्ञ सबसे ऊपर स्थित है।

**यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व।** यजु० २.१४

यज्ञ के शिव कर्म में संलग्न हो।

**मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा।** यजु० ४.७

मेधा और मनोबल पाने के लिए हम अग्नि में आहुति देते हैं।

**दीक्षायै तपसे ऽग्नये स्वाहा।** यजु० ४.७

दीक्षा और तपोबल के लिए हम अग्नि में आहुति देते हैं।

**गभीरमिममध्वरं कृधि।** यजु० ६.३०

यज्ञ को गम्भीर बना।

**यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नम्।** यजु० ८.४

यज्ञ विद्वानों को सुख पहुँचाता है।

**प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्।** यजु० ८.२०

विद्वान्, तू यज्ञ के लाभ जानता हुआ यज्ञ में आ।

**अग्नये गृहपतये स्वाहा।** यजु० १०.२३

गृहरक्षक यज्ञाग्नि में आहुति दो।

**सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः।** यजु० १२.४४

यजमान की कामनाएँ पूर्ण हों।

**सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनाम्।** यजु० १५.३४

उत्कृष्ट ब्रह्मा वाला यज्ञ ऐश्वर्यों का सुकर्ता होता है।

**भद्रो नो अग्निराहुतः।** यजु० १५.३८

आहुति दिया हुआ यज्ञाग्नि हमारे लिए भद्र हो।

**स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति।** यजु० १७.६९

यजमान लोग स्वस्ति तथा मोक्ष को प्राप्त करें।

**तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।**
यजु० २०.२५

वह देश पुण्यवान् है, जहाँ विद्वान् अग्निहोत्र करते हैं।

**स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्।** यजु० २०.४६

आहुति देनेवाले विद्वान् लोग अमर होकर आनन्द-लाभ करें।

**देवा नो यज्ञमृतुया नयन्तु।** यजु० २४.१९

विद्वान् पुरोहित हमारे यज्ञ को ऋत्वनुकूल चलाएँ।

**आ जुहोता हविषा मर्जयध्वम्।** साम० ६३

अग्निहोत्र करो, हवि से पवित्रता लाओ।

**इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।**

अथर्व० १.८.१

यह हवि यातनादायक रोगों को बहा ले जाए, जैसे नदी झाग को।

**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत।** अथर्व० ३.३०.६

सब मिलकर अग्निहोत्र किया करो।

**यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्।**

अथर्व० ६.५.३

जिसके घर में हम अग्निहोत्र करें उसे हे प्रभु, तू बढ़ा।

**हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये।** अथर्व० ६.३९.१

हे प्रभु, मुझ हविष्मान् को बढ़ा, जिससे मैं ज्येष्ठ बनूँ।

**घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अस्मे।** अथर्व० ७.८२.६

हे यज्ञाग्नि, तुझमें हवन के लिए गौएँ हमें घृत देती रहें।

**अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नान्।** अथर्व० ६.२.६

अग्निहोत्र से मैं रोगादि शत्रुओं को दूर करता हूँ।

**समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति।** अथर्व० १२.२.११

प्रज्वलित यज्ञाग्नि अपनी सुपावकता से वायुमण्डल को पवित्र करती है।

**वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।** अथर्व० १९.५५.३

हे यज्ञाग्नि, तुझे प्रज्वलित करके हम शरीर की पुष्टि पाएँ।

**किमु स यज्ञेन यो गामिव यज्ञं न दुहीत।**

मै०सं० १.४.५

उसका यज्ञ करने से क्या लाभ, जो गाय के सदृश यज्ञ से कुछ दुहे नहीं।

**अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञक्रतवः।** मै०सं० १.८.६

अग्निहोत्र में सब यज्ञकर्म समाविष्ट हैं।

**व्रतेन यज्ञः सन्ततः।** मै०सं० ३.६.६

व्रत से यज्ञ अनुष्ठित होता है।

**स्त्रवति वै यज्ञोऽसंस्थितः।** क०क०सं०

अदृढ़ यज्ञ चू जाता है।

**यज्ञो वै सुतर्मा नौः।** ऐ०ब्रा० १.१३

यज्ञ आसानी से भवसागर पार करानेवाली नौका है।

**नादक्षिणेन यज्ञेन यजेत।** का०श०ब्रा० २.२.१.१८

बिना दक्षिणावाला यज्ञ न करे।

**अग्निहोत्रे ऽश्वमेधस्याप्तिः।** का०श०ब्रा० ३.१.८.२

अग्निहोत्र से अश्वमेध का फल मिल जाता है।

**हवींषि ह वा आत्मा यज्ञस्य।** श०ब्रा० १.६.३.३९

हवियाँ ही यज्ञ का आत्मा है।

**यज्ञौ वै श्रेष्ठतमं कर्म।** श०ब्रा० १.७.१.५

यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

**रक्षांसि यज्ञं न हिंस्युः।** श०ब्रा० १.८.१.१६

सावधान! राक्षस यज्ञ को विघ्नित न कर दें।

**यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवम्।**

श०ब्रा० १२.२.३.९

जो यज्ञ का अन्यून और अनधिक रूप है, वही शिव है।

**शतोन्मानो वै यज्ञः।** श०ब्रा० १२.७.२.१३

यज्ञ सैकड़ों उत्थान देनेवाला है।

**मुखं वा एतद् यज्ञानां यदग्निहोत्रम्।**

श०ब्रा० १४.३.१.१९

अग्निहोत्र यज्ञों का मुख है।

**द्विर्ह वै यजमानो जायते मिथुनादन्यज्जायते यज्ञादन्यत्।** जै०ब्रा० १.२५९

यज्ञमान दो बार जन्म लेता है, एक माता-पिता से, दूसरा यज्ञ से।

**विच्छेत्स्यन्ते वा अदक्षिणा यज्ञाः।** जै०ब्रा० २.११६

बिना दक्षिणावाले यज्ञ विफल हो जाएँगे।

**अजातो ह वै तावत् पुरुषो यावन्न यजते।**

जै०उ०ब्रा० ३.३.४.८

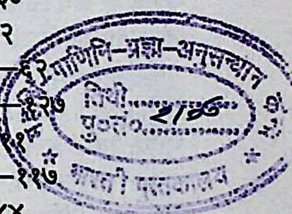
तब तक पुरुष का सांस्कृतिक जन्म नहीं होता, जब तक यज्ञ नहीं करता।

**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।**

छा०उ० २.२३.१

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।

# मन्त्रानुक्रमणिका







# सत्यार्थप्रकाश के १२५वें प्रकाशन वर्ष पर विशेष

आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व सन् १९२५ में श्री गोविन्दराम जी ने अनेक विशेषताओं से युक्त सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण 'ऋषि जन्म शताब्दी' के अवसर पर कलकत्ता से प्रकाशित किया था। सन् १९६२ में पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च-स्कॉलर ने महर्षि की मूल प्रति से शोधकर सत्यार्थप्रकाश तैयार किया था जिसमें कई विशेषताएँ थीं।

निम्न विशेषताएँ युक्त यह संस्करण पं० भगवद्दत्त जी वाले संस्करण की प्रतिलिपि है—

१. पं० वीरसेन जी ने सत्यार्थप्रकाश में आये वेदमन्त्रों के स्वरों को शुद्धरूप दिया था। इस संस्करण में उसका अनुसरण किया गया है।

२. प्रथम समुल्लास में आये ईश्वर के १०८ नामों की अकारादि क्रम से सूची प्रथम परिशिष्ट में।

३. सत्यार्थप्रकाश में व्याख्यात पारिभाषिक शब्दों की सूची द्वितीय परिशिष्ट में।

४. सत्यार्थप्रकाश में निर्दिष्ट व्यक्तियों वा स्थानादि की अकारादिक्रम से सूची तृतीय परिशिष्ट में।

५. सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में भाषा में निर्दिष्ट विभिन्न शब्दों का रोमन लिपि में निर्देश चतुर्थ परिशिष्ट में।

६. चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों के अनुवाद के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र देहलवी का वक्तव्य पञ्चम परिशिष्ट में।

७. सत्यार्थप्रकाश की आधार ग्रन्थ-सूची षष्ठ परिशिष्ट में।

८. सत्यार्थप्रकाश पर उठी शंकाओं का समाधान सप्तम परिशिष्ट में।

९. अन्तिम अष्टम परिशिष्ट में अकारादिक्रम से प्रमाण-सूची।

१०. अनुच्छेदों (पैराग्राफों) पर क्रमांक इसकी एक अनूठी विशेषता है।

११. प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर उस पृष्ठ में आ रहे विषय का उल्लेख।

१२. प्रारम्भिक पृष्ठों में समुल्लास-अनुसार विस्तृत विषय-सूची।

१३. मन्त्रानुक्रमणिका सहित।

इन सब विशेषताओं के लिए स्वर्गीय श्री पं० भगवद्दत्त, स्व० श्री पं० जयदेव विद्यालङ्कार, स्व० श्री पं० रामचन्द्र देहलवी, पं० वीरसेन वेदश्रमी, स्वामी जगदीश्वरानन्द के हम आभारी हैं।

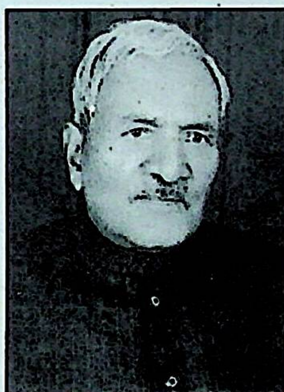
स्वर्गीय श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक के प्रति भी आभार, सत्यार्थप्रकाश के उनके संस्करण से तीन शब्द-सूचियां इस संस्करण में उद्धृत की हैं।

'वेदप्रकाश' साइज के ७५० पृष्ठों का यह संस्करण कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज, मोटा टाइप, बढ़िया कागज, नयनाभिराम छपाई एवं कपड़े की जिल्द में उपलब्ध हो जाएगा।


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथि
पु०सं०


2106

# लेखक परिचय



प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डा० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्यातिप्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर (बरेली) उ० प्र० में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ। शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई। इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुल सचिव, अध्यक्ष वेद-कला-महाविद्यालय तथा आचार्य एवम् उपकुलपति का कार्य भी करते रहे। इस संस्था ने आपको 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि से भी सम्मानित किया। गुरुकुल में शिक्षक रहते हुए आपने आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम०ए० तथा पी-एच० डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। आपका पी-एच० डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' हैं, जो प्रकाशित है। १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में 'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ' के प्रथम आचार्य एवम् अध्यक्ष नियुक्त हुए। वहां से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थविचार। आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार, समर्पण शोधसंस्थान द्वारा सम्मान तथा महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मान एवं पुरस्कार प्रमुख हैं। सम्प्रति आप निज रूप से वैदिक शोध एवं ग्रन्थलेखन में संलग्न हैं।

ओ३म्

# यज्ञमीमांसा





आचार्य रामनाथ वेदालंकार